



## २५०० सालों तक ब्राह्मण ने स्वघोषित आरक्षण का लाभ उठाया सत्ता परिवर्तन (१९४७) के बाद भी सर्वाधिक लाभ प्राप्ती कहा हैं।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि, 'आल रोड्स गो टू रोम' भारतीय पृष्ठभूमि में इसे कहना हो तो ऐसा कहेंगे कि "मूलनिवासी जातियों की सभी पीढ़ायें ब्राह्मणवाद की ओर जाती हैं। लेकिन इस सच्चाई को तब ही समझा जा सकता है जब इतिहासका अध्ययन करें। परन्तु मुश्किलें यहाँ भी कम नहीं हैं। सब से पहले तो यह समझना होगा कि, इतिहास का अध्ययन और आत्मबोध प्राप्त करने के लिए तार्किक बुद्धि और सदसद्विवेक चाहिये। लेकिन इन दोनों बिंदुओं पर पहरा बैठाया जा रहा है ताकि 'उनके' ऐतिहासिक षडयंत्रों को और बौद्धिक प्रक्षेपणों (मिलावटों) को सर्वसाधारणजनता नहीं समझ सके। और आप नहीं जान पायें कि आपके दुख-दर्द-दलन और अमानवीय जिंदगी के लिये असली गुनहगार कौन हैं?

ऐसे अनेक मुद्दे हैं जो इधर सन २०१४ से मीडियाँ में सुर्खियाँ बनने लगे हैं। इन्हें समझने के लिये हमें इतिहास में बहुत पीछे जाना पड़ेगा। इनमें से, **आरक्षण** का भी एक मुद्दा है। इस आरक्षण के मुद्दे पर बार-बार धर्म शास्त्रों से प्रेरणा लेने वाली सांप्रदायिक विचारधारा को मानने वालों का एक पक्ष है और दूसरी तरफ विचारधारा से और परंपरा से गांधी, हरीजन आंदोलन और कांग्रेस की मानसिकता वालों का दूसरा पक्ष है और तीसरा पक्ष है मार्क्सवादियों का जो इतिहास का विकास आर्थिक द्वंद्व से मानते हैं, वर्ग संघर्ष को कारण मानते हैं जातीय द्वंद्व या जातीय संघर्ष को नहीं। इसके अलावा भी एक और पक्ष है जिसका दर्शन मानवतावाद है और वह भारतीय इतिहास को ब्राह्मण संस्कृति तथा श्रमण संस्कृति के संघर्ष का परिणाम मानता है। हम आरक्षण के संदर्भ में उपरोक्त मुद्दों पर विचार करेंगे।

आरक्षण को लेकर हाय तौबा मचाने वाले लोग मुट्ठिभर हैं। लेकिन ये मुट्ठिभर लोग, जिन्हें जनगणना की भाषा में कहें तो मात्र ३ प्रतिशत हैं शासनकर्ता बनकर जीवन के हर क्षेत्र में, शीर्ष पर हैं। संसद में, विधान सभाओं में रिमोट इनके हाथों में है। उच्च भारतीय नौकरशाही में, भारतीय न्याय व्यवस्था में अपनी वास्तविक संख्या से कई गुणा अधिक हैं। और यह सब आज कल से नहीं है। इनके **स्वघोषित आरक्षण** का इतिहास पहली लोकसभा (१९५२) से नहीं शुरू होता है। भारतीय संविधान में बाबासाहब अम्बेडकर ने आरक्षण की जो गार्डलाईन दी थी वह ऐतिहासिक रूप में सामाजिक आर्थिक रूप से पिछड़े रखे गये लोगों के लिये थी। इसलिये आरक्षण पर एक सही समझ विकसित करने के लिये हमें भारतीय इतिहास में २५०० साल पीछे लौटना होगा। ईसा पूर्व २०० का समय भारतीय इतिहास में एक उथलपुथल भरा संक्रमण काल है। इसके पूर्व श्रमण संस्कृति थी जिसमें स्वतंत्रता, समानता, बंधुभाव और गणतंत्रीय मूल्याधिष्ठित संस्कृति थी। तब पूर्व 'आरक्षण' शब्द का अविष्कार नहीं हुआ था। प्रतिक्रांति के जीवन में सुख, समृद्धि और आनंद था।

चारों वर्णों में प्रथम क्रमांक पर, ब्राह्मण ने स्वयं के लिये, स्वयं के द्वारा और स्वयं को समर्पित आरक्षण की घोषणा की। स्वयं को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया और भूदेवता की संज्ञा दी। शिक्षा को पूरी तरह अपने कब्जे में ले

लिया। एकाधिकार कर लिया। शेष तीन वर्णों को अलग-अलग अधिकार और कर्तव्य सुनिश्चित किये गये। इसे **स्वधर्म** कहा गया। याने प्रत्येक वर्ण के लिये जीवकोपार्जन करने के लिये जो कर्तव्य और अधिकार तय किये गये उसे ही उनका स्वधर्म कहा गया। **स्वधर्म ही ला आफ द लैंड था**, कानून था, दंडसंहिता थी। और आज की भाषा में इंडियन पैनल कोड था। परंतु प्राचीन काल में इन्हें धर्मशास्त्र की संज्ञा दी गई। यह धर्मशास्त्र स्मृतियों, धर्मसूत्रों, को मिलाकर बना है। इसे लिखने वाले जो समाज, अर्थ और राजनीति के ज्ञानी थे, उन्हें तब ऋषि कहा गया। पाराशर, नारद, आपस्तम्ब, बौधायन आदि अनेक हैं परन्तु इन सब का सिरमौर मनु था। डॉ. अम्बेडकर ने कहा है कि, इन के शास्त्रों को डायनामाईट लगाकर उड़ा दिया जाये।

ढ़ाई हजार साल पूर्व ब्राह्मण ने स्वघोषित आरक्षण के समर्थन में धर्मशास्त्रों का सहारा लिया था। और वे धर्मशास्त्रों के (हिंदू कानूनों) और हिंदू समाजशास्त्र के निर्माता थे। खुद के लिये सारी व्यवस्था कर ली। तब उनके स्वघोषित आरक्षण का प्रतिरोध किसी ने नहीं किया। क्योंकि विचार स्वतंत्रता भी समाप्त कर दी गई थी। तब, विवेक और विज्ञानवादी दृष्टि रखने वाली विचारधाराओं और संप्रदायों पर बंदिश लगा दी गई थी। तब से आज तक शिक्षा और जीवन के अन्य क्षेत्रों में लगातार एकाधिकार के रूप आरक्षण का लाभ उच्चवर्णीय जन उठाते रहे हैं। लेकिन दूसरी तरफ मूलनिवासी के ८५% लोगों को अज्ञानता व अशिक्षा के अंधे कुएं में ढकेल दिया गया। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि बुद्ध के समय भारत की जनसंख्या एक करोड़ थी। अर्थात् उनके कुछ समय पश्चात घटी प्रतिक्रांति में मात्र ३ लाख लोगों के लिये आरक्षण के लाभ के लिये कानून बनाये और उधर ८५% याने ८५ लाख लोगों को अनपढ़ रखा गया! क्या ये 'राष्ट्र' नहीं थे? वर्ण की विचारधारा क्या राष्ट्रद्रोही विचारधारा नहीं थी। इस बिंदू पर खुली बहस क्यों नहीं होना चाहिये? इस बिंदूपर भी विचार होना चाहिये कि, आखिर आरक्षण की जरूरत क्यों पड़ी? इस प्रश्न के उत्तर की तलाश में हमें वर्ण व्यवस्था तक पहुँचना होगा और वर्ण व्यवस्था क्या है? यह ब्राह्मणी अर्थव्यवस्था है 'संघ' की भाषा में हिंदु जीवन व्यवस्था है। धर्म की भाषा में 'स्वधर्म' है और हिंदु समाज शास्त्र की भाषा में हिंदु राष्ट्रवाद का आधार है। याने पूरा हिंदु धर्म वर्ण व्यवस्था पर खड़ा है। और इस सारे चिंतन में आरक्षण कहाँ है? असल में आरक्षण उस २५०० साल पुरानी सनातन हिंदु समाज व्यवस्था के लिये एक तरह से सुरंग है यदि यह आरक्षण व्यवस्था और ५० साल बनी रही। खासतौर पर, उच्च शिक्षा और उच्च नौकरशाही में आरक्षण की; तो क्या होगा, संघ के थिंग टैंक को इसकी पूरी संकल्पना है। अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और ओबीसी वर्ग शिक्षा, संपत्ती और सत्ता में शक्तीमान बन पायेंगे। और समाज की मूलधारा बन जायेंगी। यह होगा आरक्षण का करिश्मा! यह आरक्षण के कारण भविष्य में जातीय अर्थव्यवस्था (Casteiest Economy) में भारी बदलाव आयेगा। कुछ बढ़त हांसिल कर अनुसूचित जातियों दबंग हो गई हैं और यह सांप्रदायिक ताकतों के लिये संकट है। उनके याने तीन टक्का लोगों के लिये जो संपूर्ण व्यवस्था पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दखल बनाये हुये है और वर्णव्यवस्था में सिरमौर बन बैठे हैं। जिस तरह अमेरीका में अल्पसंख्यक में यहूदियों ने संपूर्ण अमरीकी अर्थव्यवस्था को अपने हाथों में, रिमोट कंट्रोल की तरह ले रखा है। और ब्राह्मण वर्ण नहीं चाहता कि, २५०० सालों की उनकी भूदेव परंपरा में छिद्र हो इसलिये सैद्धांतिक रूप से संघ आरक्षण के पक्षमें नहीं है। इसलिये प्रायः मौनधारण करता है और बहुत जरूरत पड़ने पर थोड़ा-सा मुंह खुलता है। वह भी गूढ़ रहस्यमय भाषा में सावधानीपूर्वक उनके वक्तव्य आते है।

जैसे कुछ समय पहले मोहन भागवत का बयान आया कि, आरक्षण की समीक्षा होनी चाहिये। इसके बाद नागपूर के एक सम्मेलन में यह कहकर उन्होंने हाथ ऊपर कर दिये कि, आरक्षण हमारा विषय नहीं है। पुनः एक

सीनीयर संघ नेता, का बयान आया कि, आरक्षण से विषमता फैलेगी। ऐसा लगता है कि वे लोग जानबूझ खुलकर नहीं बोलते हैं और कुटनीतिक बुद्धि (साम) का प्रयोग करते हैं। उद्देश्य होता है कि मीडिया में चर्चा हो और प्रतिक्रिया जानकर आगे की रणनीति बनायें।

विद्वज्जन पाठकों को याद होगा कि करीब ३ वर्ष पहले राज्यसभा में एक बिल आया था। यह बिल आरक्षण को लेकर था मुद्दा यह था कि, भारत के उच्चशिक्षण संस्थानों में (४६) से आरक्षण हटा लिया जाये। और मात्र २ मिनट में ध्वनि मतदान से पारित भी हो गया था। खैर! बाहर होहल्ला मचा और वह बिल वापस हुआ।

आरक्षण से जुड़ी अभी दो ताजी घटनायें हैं। एक गुजरात हायकोर्ट का निर्णय आया है कि आरक्षण कोटे के उच्च प्रतिशत के छात्रों को ओपन कैटेगरी में प्रवेश नहीं मिलेगा। दूसरा सुझाव सुप्रीम कोर्ट का आया है कि उच्चशिक्षण संस्थानों से आरक्षण समाप्त करें ऐसा संकेत केंद्र सरकार को दिया गया है।

आरक्षण को केंद्रित कर ये सारे बयान, एक बात की ओर अवश्य इशारा करते हैं कि, न्यायव्यवस्था, नौकरशाही संसद में और सरकार में आरक्षण को लेकर सब ठीकठाक नहीं है।

सहिष्णुता का कालानुक्रम (cronology) ईसा पूर्व २०० वर्ष तक है। तब भारत सचमुच सहिष्णुता के लिये जाना जाता था। सहिष्णुता परिणाम है और कारण है विचार स्वतंत्रता। ऐसा नहीं है कि, लोग आपस में मतभेद नहीं रखते थे और न कि विभिन्न विचार संप्रदाय, धर्म और दर्शन सम्प्रदाय नहीं थे। इस मामले में तो प्राचीन भारत में भरमार थी। आस्तिक, नास्तिक, भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, प्रकृतिवादी अनेकानेक संप्रदाय थे। बौद्धिक विमर्श भी खूब होते थे। परन्तु मतभिन्नताओं के बावजूद एक दूसरे पर शारीरिक आक्रमण नहीं हुये। हत्यायें नहीं की गईं। यह प्रभाव भगवान बुद्ध ने विकसित की हुई परंपरा से उत्पन्न था कि, शत्रु को भी बुद्धिवाद से, तर्क से जीतो। शारीरिक बल या षड़यंत्रों से नहीं। हत्याओं से नहीं।

भारतीय जनता के सामने सब से बड़ा संकट सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अनेक पहलु हैं जो छुपे हुये हैं। सामान्य जन तो क्या बुद्धिजीवी भी इस संकट के दुष्परिणामों से वाकिफ नहीं है ऐसा लगता है। खासतौर पर वे लोग जो ऊपरीतौर पर अम्बेडकरवादी, समाजवादी होने का भ्रम पाले हुये हैं परंतु प्रत्यक्ष में, सोच में उस विचारधारा का समर्थन करते नजर आते हैं, खासकर राजनीतिक पटल पर जो कि, अंततः आत्मघाती है। और सांप्रदायिक है। ये लोग इतिहास से बोध नहीं लेते हैं।

संविधान ने, जिन सांस्कृतिक मूल्यों से प्रेरणा ली है जिसे आधार बनाया है और अपेक्षा की है, कि नया भारत उन मूल्यों का संवर्धन करेगा और लोकतंत्र फलेगा फूलेगा उस पर सांप्रदायिक ताकतों ने सांस्कृतिक आक्रमण कर दिया है। यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद; जातिवाद, वर्णवाद, वंशवाद को बढ़ावा दे रहा है। यह पूरी वैश्विक मानवतावाद के लिये भी खतरा बन गया है। लेकिन वर्तमान प्रगतिशील नेतृत्व भी सवालियों के घेरे में खड़ा है। उसे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से मुक्त होना होगा। यह व्यक्तिवाद की घुसपैठ साहित्य, इतिहास, पत्रकारिता में हो गई है। यहां तक कि वह दलित साहित्य भी जो नकार, विद्रोह और अस्वीकार के साथ ब्राह्मणवाद के विरुद्ध खड़ा था अब! दिशा भ्रमित हो गया है। इसका अर्थ हुआ कि क्या भारत एक वैचारिक संक्रमण काल में प्रवेश कर चुका है? हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद और इन तरह-तरह के वादों के बीच से नई राह निकालने के लिये पुनः सांस्कृतिक चक्र प्रवर्तन की आवश्यकता है २१ वीं सदी में देश को आगे ले जाने के लिये और मानवतावाद को बढ़ावा देने के लिये नये नेतृत्व का तरुण भारत चाहिये। जिसकी सोच और परंपरा बुद्ध, कबीर, अम्बेडकर से शुरू होती है- यही नेतृत्व, भारत को मुक्ती के साथ विश्व में

शक्तीमान बना सकेगा। अब हमारी आशा परिवर्तनवादी विचारधारा के तरुण नेतृत्व पर टिकी है- जो पार लगा सकते हैं। यह विचार, परंपरा और जीवनशैली ने अपनी एक पहचान बना ली थी और उस सांस्कृतिक पहचान को ही श्रमण संस्कृति कहा गया। वास्तव में जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं और युगों तक विश्व में पहचान बनाई वह भारतीय संस्कृति में श्रमण संस्कृति बहुत बड़ा भाग है।

लेकिन! प्रतिक्रांति (ई.पू.१८४) ने भारत की असली पहचान पर सांस्कृतिक आक्रमण कर दिया और **सांस्कृतिक आतंकवाद** को जन्म दिया। प्राचीन भारत में भी युद्ध हुये हैं परन्तु कपटपूर्ण हिंसा की छूटपुट घटनायें भी नहीं हुई। और भारतीय इतिहास की यह गौरवमयी परंपरा प्रतिक्रांति में समाप्त हो गई। ईसा पूर्व २०० में पहलीबार आतंकवाद का जन्म हुआ। इसके जन्म का अर्थ था विचार स्वतंत्रता समाप्त प्रायः होना।

सम्राट अशोक के नाती बृहद्रथ की हत्या पाटलिपुत्र (पटना) में कर दी गई। यह हत्या वास्तव में करवाई गई थी। किसने करवाई थी? कोई एक व्यक्ती नहीं है जिसका नाम लिया जा सके। वह व्यक्ती नहीं विचारधारा थी। उस विचारधारा का नाम है, सांस्कृतिक आतंकवाद और यहीं से होती है, ब्राह्मणवाद की वापसी।

जब ब्राह्मणवाद वैचारिक बहसों में बौद्ध धम्म और दर्शन के विद्वानों के सामने नहीं टिक सका। तर्क और बुद्धिवाद के विमर्शों के सामने वैदिक धर्मानुयायी पंडितों और यज्ञानुष्ठान करने वाले पुरोहितों की एक न चली तब साम, दाम, दंड और भेद की नीति का अविष्कार किया गया। तब हिंसा का प्रयाग किया गया और इस हिंसा के प्रयोग ने भारतीय संस्कृति की अमूल्य पहचान-सहिष्णुता को तथा तर्क को, विचार स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया। तब से यह ब्राह्मणवाद हिंसा की परंपरा का सांस्कृतिक आतंकवाद का प्रयोग समय समय पर एक साधन के रूप करता रहा है।

चाहे जितने बयान दें। लीपापोती करें परंतु साहित्यकारों, विचारकों बुद्धिजिवियों और इतिहासकारों की नजरों से यह बात छुपी नहीं है कि भारत धीरे धीरे असहिष्णुता की ओर बढ़ रहा है। विज्ञान चेतना और तर्कशील चिंतन, लेखन के विरोध में अंधश्रद्धा, आस्था और विषयनिष्ठता का अंधेरा बढ़ रहा है। और इस **सांस्कृतिक दुर्घटना** को रोकने का एक शांतिपूर्ण तरीका यह है कि जनमत जाग्रत करें, राष्ट्र का ध्यानाकर्षण करें और इसलिये आवाज वापस किये जा रहे हैं।

अवार्ड्स की वापसी राष्ट्र समाज के विरोध में नहीं है परंतु उन मूल्यों की रक्षा के लिये उठाया गया कदम है जिनकी वजह से भारत की पहचान बनी है।

अपने मत प्रकट करने से रोकना, वास्तव में संविधान की भाषा में कहें तो यह विचार स्वतंत्रता पर आक्रमण है और संस्कृति के दृष्टिकोण से देखें तो यह सहिष्णुता पर आक्रमण है। और इतिहास के नजरिये से देखें तो प्रतिक्रांति की वापसी की ग्रीन रिहर्सल है। मुद्दा यह है कि सरकार के सभी तंत्र तथा चौथा स्तम्भ मीडिया जब अपने कर्तव्य से चूक रहे हैं तब विचारशील लोगों का आगे आकर साहसपूर्ण ढंग से उठाया गया कदम संभावना कहाँ गलत है?

इन गम्भीर मुद्दों की ओर जैसे, शिक्षा, साहित्य, इतिहास, संस्कृति, सिनेमा, मीडिया, पुरातत्व और विज्ञान आदि के क्षेत्र में मौका मिलते ही घुसपैठ हो रही है यह घुसपैठ क्या है? राजनैतिक तंत्र अपने अधिकारों और शक्ती का इस्तेमाल कर देश को सांस्कृतिक हिंसावाद की ओर ले जा रहा है तब भी सुविज्ञान खामोश बैठे रहे तो यह खामोशी बहुत महंगी पड़ेगी। आम जन को इन गम्भीर मुद्दों का समझना होगा।

सुजित

## अम्बेडकरी आन्दोलन

-डा. यशवन्त मनोहर

डा. बाबासाहब अम्बेडकर के क्रांतीकारी तत्त्वज्ञान से जन्मा हुआ आन्दोलन अर्थात् अम्बेडकरी आन्दोलन है। हमारे देश में क्रांतिकारी आन्दोलन ऊंगलियों पर गिनने लायक है। उनमें भी मूलभूत क्रांति के आन्दोलन तो बहुत कम हैं। बुद्ध, फूले और अम्बेडकर इस नाम से वह आन्दोलन पहचाने जाते हैं। भारत के इतिहास में समाजक्रांति के आन्दोलन में डा.बाबासाहब अम्बेडकर के आन्दोलन को बेजोड़ स्थान है।

**आन्दोलन और विचार :** आन्दोलन अलग अलग कारणों से होते हैं। क्रांति के आन्दोलन मारने के लिए भी होते हैं। मारने के लिए जन्मे हुये आन्दोलन को प्रतिक्रांतिवादी आन्दोलन कहते हैं। समाज की रचना जैसी है वैसी ही रहनी चाहिये; उसपर भी इन्सान के पुराने सम्बन्ध जैसे ही रहने चाहिये। उसमें कुछ बदलाव ना हो इसके लिए लगातार प्रयत्न करनेवाली प्रवृत्ति अर्थात् प्रतिक्रान्तिवादी प्रवृत्ति है। इसे ही हम स्थितीवादी और 'जैसे थे'वादी प्रवृत्ति कहते हैं। चार वर्ण और चार वर्णों के पैरों तले अस्पृश्य। यह किसी चार मंजिला इमारत की तरह समाजरचना है। यह समाजरचना ढलान की ओर है। जाहिर है, यह समाजरचना उत्तम है ऐसा सबसे ऊपरी मंजिल के लोगों को लगेगा ही। इसलिए यह समाज रचना ना बदल पाये इसकी कोशिश ऊपरी मंजिल के लोगों द्वारा करना स्वाभाविक ही है। निम्नतर लोगों को रौंदनेवाली किन्तु अपने हित का जतन करने वाली समाज रचना ना बदले इसके लिए प्रयत्न करने वाले और यह अन्यायकारक समाजरचना बदले इसके

लिए प्रयत्न करनेवाले आन्दोलन को विरोध करनेवाली प्रवृत्ति ही प्रतिक्रांतिवादी प्रवृत्ति है। **यह क्रांति विरोधी प्रवृत्ति लोगों को बदलने ही नहीं देती। परिवर्तन का मार्ग ही पूरी तरह से बंद किया जाता है। भारत ने इसी क्रांति विरोधी प्रवृत्ति का विषमता से सड़े गले समाज रचना का चिरंतन स्विकार किया। विषमता ही इस प्रवृत्ति का**

**सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर है।**

**विषमता लाभदायक:** जिन लोगों को लिए विषमता लाभदायक है वे विषमता का सम्पूर्ण बलपूर्वक समर्थन करते हैं। लोकमानस में समता का चित्र ही वे मिटा देते हैं। समता के विरोध में लोकमानस तैयार करने का कार्यक्रम इसी क्रांतिविरोधी प्रवृत्ति के लोगों का इकलौता कार्यक्रम है। विषमता का जहर फैलाने के लिए वे सम्पूर्ण प्रसार माध्यम का प्रयोग करते हैं। यह लोग समता का उच्चारण करते हैं किन्तु उनकी समता विषमता को धक्का ना लगे इस तरह होती है। उनकी समता महज नकाब मात्र है। बोटल पर समता का सजावट के लिए नाम होने पर भी बोटल के अन्दर विषमता का जहर ही होता है। विषमता यह जिनके लिए लाभदायक होती है उन्होंने इन्सानियत से विमुखता की होती है। वे केवल स्वार्थी, दूसरों के दुःख में ही इनका सुख होता है। इसलिए दूसरों को सुखी ना होने देने के लिए ही उनकी लगातार कोशिशें जारी रहती हैं। **इन क्रांतिविरोधी लोगों को इस कदर आदत हो जाती है की लोग दुःखी ना हो तो इन्हें सुखी होना**

**बहुत कठिन लगता है।** विषमता ही इनका परममंगल हो जाता है। विषमता ही उनके जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य बन जाता है। विषमता ही उनकी आदत बन जाती है। विषमता के बिना वे जी ही नहीं सकते। फिर मौत को टालने के लिए उन्हें विषमता का जतन करना जरूरी हो जाता है।

**ईश्वर और धर्म केवल साधन:** इस विषमता का जतन करना एकबार लक्ष्य बनने के बाद उसे संजोकर रखने के लिए ज्यादा से ज्यादा कारगर साधनों का प्रयोग किया जाता है। क्रांति विरुद्ध मानसिकता विषमता जतन करने के लिए ईश्वर और धर्म का प्रयोग करती है। उसका लक्ष्य होता है सामाजिक विषमता और ईश्वर व धर्म उसका हथियार होता है। इन हथियार बाबद संदिग्धता निर्माण ना हो इसलिए इन्हें भक्तिमंडित किया जाता है। एक झूठ को छिपाने के लिए हजारों झूठ लादे जाते हैं। तब इन लोगों को ईश्वर की मूर्ति में दरारें भी चल जाती है। स्वार्थ में दरारें नहीं चलती। नैतिकता की धज्जियाँ चलती हैं किन्तु स्वार्थ कसकर बंधा हुआ चाहिये।

**भारत का इतिहास :** भारत की वैदिक संस्कृति का विकास, स्थितीवादी मन ढालने की यंत्रणा का विकास है। विषमता पूजनीय है इस बात को मन में कुरेदने वाले साधन का विकास है। यह बुद्धि का विकास नहीं तो बुद्धि विरोधी एहसास का विकास हैं। वेद, उपनिषद, गीता, मनुस्मृति, ज्ञानेश्वरी, दासबोध, निबंधमाला, गीतारहस्य, विचारधन यह सभी साहित्यनिर्मिती स्थितिवादी मन में गढ़ने के लिए रची गई है। क्रांति का विरोध करने की मानसिकता गढ़ने का काम आजतक इन ग्रंथों द्वारा हमारे देश में हुआ

है। ग्रंथ क्रांति का विचार मार सकते है। क्रांति का विचार ना पनपने पाये यह कार्य ये ग्रंथ कर सकते है इस का यह सबूत है।

**क्रांति संस्कृति का विकास :** हमारे देश में जिस तरह क्रांति का विचार मारनेवाली प्रवृत्ति है उसी तरह क्रांति संस्कृति का विकास करनेवाली संस्कृति भी है। क्रांति विरोधी संस्कार विघातक है। यह संस्कार समता के हत्यारे है। वे देश के मानव को पशु और राष्ट्र को चिरस्थायी दुर्बलता में परिवर्तित करनेवाले संस्कार है।

**डा.बाबासाहब अम्बेडकर ने विचारों की ज्वार-भाटा साबित करके दिखायी। आन्दोलन खड़ा किया। उन्हें यह दिखाई दिया की यह देश वर्तमान काल में नहीं जी रहा है। यह समाज केवल भूतकाल को ही दोहरा रहा है। यह दोहराना अर्थात मृत्यू है, परिवर्तन नकारना अर्थात मृत्यू है, यह 'अनित्यवाद' रचनेवाले बुद्ध ने कहा था।**

इस संस्कार का उद्गम ही नष्ट करना चाहिये। इस संस्कार के जन्मस्थान ही ध्वस्त करना चाहिये। इस विषमता का महोत्सव पूरी तरह से भस्म करना चाहिये। इस विषमता की बुनियाद को ही दहन करना चाहिये यह वृत्ति उफनकर आती है। कुरुपता नष्ट करने के लिए सुरुपता के स्वप्न उमडाने वाला मन आगे की ओर रुख करता है। विषमता

का अँधेरा जलाने के लिए कुछ लोग मोरचा सँभालते है। इन्सानियत को विषमता की कैद से मुक्त करने के लिए दौड़ते है। भारतीय ही नहीं तो भारत के बाहर मानव को मानव के नाते संभावित अस्मिता का एहसास प्रकाशमान करने के लिए बुद्ध आते हैं। शूद्रातिशूद्र और स्त्रियों को विषमता के दलदल से बाहर निकालने जोतीबा फूले आते हैं और बीसवें शतक के पूर्वार्ध से अम्बेडकर नाम की एक समाजक्रांती का आन्दोलन शुरू होता है। समता यह आन्दोलन का लक्ष्य है। लोकतंत्र और समाजवाद ही इस आन्दोलन के साधन है।

**अम्बेडकरी आन्दोलन :** आमतौर पर १९२० से अम्बेडकरी आन्दोलन को प्रारम्भ होता है और १९५६

तक एक जोश के साथ यह आन्दोलन चलता रहा। यह आन्दोलन ही अम्बेडकरवादी आन्दोलन है। इस आन्दोलन को १९५६ तक डा. बाबासाहब अम्बेडकर का नेतृत्व प्राप्त हुआ। बाबासाहब के नेतृत्व के उजाले में ही इस आन्दोलन ने आगेकूच किया।

अम्बेडकरी आन्दोलन के पीछे एक सम्पूर्ण जीवनदर्शन था। यह जीवनदर्शन क्रान्तिकारी था। समाज, राजनीति, शिक्षण, अर्थनीति, नीति, धम्म आदि जीवन के सर्वांग को इस दर्शन ने अपने कोख में समा लिया। साहित्य और तत्त्वज्ञान की निर्मिती का क्षेत्र भी इस आन्दोलन के दायरे से नहीं बच सका। अम्बेडकरी आन्दोलन का संविधान क्रम से घटित होता गया।

**इस समाज को वर्तमानकाल में जीने की विद्या ही ज्ञात नहीं थी। चार वर्ण, अस्पृश्यता और ऊपर से इन सब में हजारों जाति ऐसा यह छिन्न-विछिन्न देश विषमता की कश्ती में बैठा हुआ था। यह कश्ती एक जगह से हिल भी नहीं रही थी। इस कश्ती को वर्ण-जाति की संख्या के बराबर मात्रा में छेद थे। इस कश्ती का आगे बढ़ना असंभव था। यह कश्ती इस कदर डूबे हुये हालात में एक ही जगह रुकी हुयी थी। काल रुक गया था। यह टूटी हुई कश्ती एक जगह पर जमकर रुक गयी थी। यहाँ से बाबासाहब का आन्दोलन प्रारम्भ होता है।**

१९२० से संविधान की रचना का प्रारम्भ हुआ। 'कास्ट इन इंडिया' ग्रंथ की निर्मिती से संविधान का पहला अध्याय साकार हुआ तथा 'बुद्ध और उनका धम्म' ग्रंथराज ने इस संविधान का युगप्रवर्तक समारोप किया।

**सम्पूर्ण देश विषमता के जहाज में:**

**डा.बाबासाहब अम्बेडकर ने विचारों की ज्वार-भाटा साबित करके दिखायी। आन्दोलन खड़ा किया।**

**उन्हें यह दिखाई दिया की यह देश वर्तमान काल में नहीं जी रहा है। यह समाज केवल भूतकाल को ही दोहरा रहा है। यह दोहराना अर्थात मृत्यू है, परिवर्तन नकारना अर्थात मृत्यू है, यह 'अनित्यवाद' रचनेवाले बुद्ध ने कहा था।** किन्तु विनाश के नशे में चूर और विषमता का भयंकर रोग पालनेवाले इस समाज ने बुद्ध की एक ना सुनी। जोतीबा फुले का भी नहीं सुना। वर्ण याने समाज को तोडकर नष्ट करना है। जाति का अर्थ जख्म है। यह समाज इन टापूओं से बना। इनमें आपसी स्नेह की नमी कहीं भी नहीं है। स्नेह का, सहजीवन का, इन्सानियत का रिश्ता ही नहीं है। सबकुछ लादा गया, जबरदस्ती से लादा गया था। इस समाज में एकदूसरे को प्रकाशमान करने का रिश्ता नहीं था। रिश्ता था मालक-दास का। दुःख देनेवाला और दुःख भुगतनेवाला रिश्ता था। **इस रिश्ते को परमेश्वर ने निर्माण किया इस किस्म का भ्रम को लोगों के मन में उच्चवर्णीय ने निर्माण किया था; और यह भ्रम क्रम से श्रद्धा बनकर, भ्रम ही पवित्र हो गया था। विषमता ही जीवननिष्ठा हो चुकी थी। भ्रम को मूल्य की, श्रेष्ठ जीवनमूल्य की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी।**

इस देश के समाज को भूतकाल ने इस कदर सँकड़ो जख्म दिये थे। समाज को दुःखी होने के लिए कुछ भी निर्माण करने की जरूरत नहीं थी। वह पूर्णतया दुःखी होगा इतना प्रबन्ध उसके आदरणीय भूतकाल ने करके रखा था। इस समाज को वर्तमानकाल में जीने की विद्या ही ज्ञात नहीं थी। चार वर्ण, अस्पृश्यता और ऊपर से इन सब में हजारों जाति ऐसा यह छिन्न-विछिन्न देश विषमता की कश्ती में बैठा हुआ था। यह कश्ती एक जगह से हिल भी नहीं रही थी। इस कश्ती को वर्ण-जाति की संख्या के बराबर मात्रा में छेद थे। इस कश्ती का आगे बढ़ना असंभव था। यह कश्ती इस कदर डूबे हुये हालात में एक ही जगह रुकी हुयी थी। काल रुक गया था। यह टूटी हुई कश्ती एक जगह

पर जमकर रुक गयी थी। यहाँ से बाबासाहब का आन्दोलन प्रारम्भ होता है।

**विचार और कृति की युती:** बाबासाहब के आन्दोलन में प्रारम्भ से एक बात निरंतर नजर आती है वह यह है कि, विचार और कृति हर वक्त हाथों में हाथ थामकर चल रहीं हैं। दो कन्याएँ एक-दूजे के हाथों में हाथ डालकर खेल रही हैं। यही रिश्ता अम्बेडकरी आन्दोलन में विचार और कृति का था। सुखी हुई लकड़ी पर आग की चिंगारी गिरते ही आग भडक उठती है उसी तरह विचार की चिंगारी गिरते ही कृति की लपटें उठने चाहिये थी। **जो विचार अत्यंत तेजी से कृति का रूप धारण करता है वह विचार समाजक्रांती के संदर्भ में महत्वपूर्ण किरदार निभाता है।** बाबासाहब के १९५६ तक आन्दोलन में हमने विचार और कृति को हाथ में हाथ थामकर चलते हुये देखा है।

**तलास्पर्शी विचार :** बाबासाहब को भारतीय समाज रचना की बुराई का सम्पूर्ण तजुर्बा हुआ था। इस समाज की विषमता की आग में जलकर भस्म हुये मन का वह विचार था। गलत विचार, अधूरा विचार और पूर्ण प्रस्तुत विचार; इस तरह विचार का विभाजन कर सकते हैं; और समाज को आगे बढ़ाना हो तो उसे पूर्ण प्रस्तुत विचार से ही जोड़ना होगा यह निश्चित है।

क्रांतिविरोधी मन ने इस देश के शूद्रातिशूद्र बाबत 'सोचा ही नहीं।' इसका अर्थ यह लोग क्रांतिविरोधक की रचना में मौजूद ही नहीं थे। इसलिए इन्होंने उन्हें गिनती में लिया ही नहीं। समाज का इस तरह बहुसंख्य लोगों के विचार को ध्यान में ना लिया जाना इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह होता है की, क्रांतिविरोधी लोगों का विचार मुट्टीभर लोगों का विचार है। वह पूर्ण जीवन का, समाज के सम्पूर्ण पहलू का विचार ही नहीं है। यह विचार अपूर्णक में खड़ा है। यह विचार अभागा, संकीर्ण व स्वार्थी है। स्वयं के चुटकीभर स्वार्थ के

लिए क्रांतिविरोधकों का विचार पूर्ण विचार की प्रक्रिया ही नकारता है और इन्सानियत का संविधान भी नकारता है।

**सुधारना और क्रांति :** १९३५ तक बाबासाहब के विचार सुधारनावाद के दायरे में भ्रमण करते हुये नजर आते हैं। जब बाबासाहब हिंदू धर्म में थे, तब उन्होंने कहा था कि हिंदू धर्म की विषमता निकालनी चाहिये। हिंदू धर्म के सम्पूर्ण तात्त्विक अधिष्ठान को इस वक्त बाबासाहब नकारते नहीं। इससे बाबासाहब की सुधारनावादी मानसिकता नजर आती है। यह बाबासाहब के जीवन का पहला वैचारिक पड़ाव है। और यह पड़ाव जिस तीव्रता से अभिव्यक्त होता है वह तीव्रता भी इस देश के इतिहास में बेजोड़ है। आगे बाबासाहब को इन सुधारनावाद का खोखलापन समझने लगता है। बाबासाहब अब निर्णायक भूमिका निभाने लगते हैं। यह भूमिका क्रांतिकारी भूमिका है। भारतीय समाजरचना बदलना है, उसके जहन में सम्मिलित विषमता पूरी तरह से नष्ट करना हो तो इस समाज रचना का सम्पूर्ण तात्त्विक अधिष्ठान ही बदलना चाहिये। उसके लिए हिंदूधर्म त्यागने की घोषणा वे करते हैं। इस देश की समाजरचना को हिंदूधर्म ने जो तात्त्विक अधिष्ठान दिया था, उसपर विषमता के विष के अलावा दुसरी कोई भी फसल नहीं पैदा नहीं हो सकती यह बात बाबासाहब की समझ में आ गई थी। इसलिए **१९३५ पश्चात् क्रम से बाबासाहब धर्मातीत व ईश्वरातीत सेक्युलॅरिज़्म की ओर झुकने लगे। १९५० में, भारतीय संविधान में पूर्णरूप से सेक्युलर किया उन्होंने कहा था। फिलॉसॉफी ऑफ हिंदूइज़्म में वह सेक्युलॅरिज़्म का कई बार विचार करते हैं। उनका 'बुद्ध अँड हिज धम्म' ग्रंथ को Secularism का प्रमाणग्रंथ मानना पड़े इस तरह का ग्रंथ है।**

**सेक्युलॅरिज़्म क्यों? :** इस देश की सम्पूर्ण विषमता धर्म पर आधारित हो तो और धर्म ईश्वर की कल्पनापर



आधारित हो तो विषमता नकारने का अर्थ धर्म और ईश्वर नकारना होता है। विषमता इस अंतिम कड़ी को नकारना हो तो जंजीर की इस कड़ी को पैदा करनेवाला ईश्वर, धर्म कड़ियों को नकारना जरूरी है। धर्म और ईश्वर कायम रखकर विषमता को नकारना संभव नहीं है। फिर धर्मातीत और ईश्वरातीत Secularism के अलावा विकल्प नहीं है। बाबासाहब ने सेक्युलरिज़्म अथवा इहवाद प्रस्तुत किया उसका यह कारण है।

**आन्दोलन : मूल्याधिष्ठीत :** बाबासाहब ने वैचारिक आन्दोलन खड़ा किया। उसका स्वरूप इस तरह है; किन्तु बाबासाहब ने कृति का भी आन्दोलन निर्माण किया। विचार का उच्चारण करके बाबासाहब रुके नहीं तो विचार को उन्होंने कृति में प्रस्तुत किया। बाबासाहब का विचार कृति से व्यक्त हुआ। इस आन्दोलन को श्रेष्ठ मूल्य का अधिष्ठान था। इस आन्दोलन के पीछे कोई भी शूद्र स्वार्थ नहीं था। स्वार्थ था केवल सम्पूर्ण उपेक्षित मानवता के उत्थान का। सम्पूर्ण अन्यायग्रस्त समूह की मुक्ति से इस स्वार्थ ने नाता जोड़ दिया था। स्वयं के लिए यह सब नहीं था। स्वयं कष्ट भोगकर दुःखी लोगों के लिए चलाया गया नये जीवन का निर्माण था। इन सब पीड़ाओं के पीछे 'मैं' यह लक्ष्य नहीं था। 'समाज' ही लक्ष्य था। राष्ट्रकल्याण ही लक्ष्य था। व्यक्ती के लिए नहीं तो मूल्य के लिए यह आन्दोलन था।

बाबासाहब का यह आन्दोलन मूकनायक की कृती से सर्वप्रथम व्यक्त होने लगा। वहाँ से बहिष्कृत हितकारिणी सभा, बहिष्कृत भारत, चवदार तालाब का सत्याग्रह, मनुस्मृतीदहन, कालाराम मंदिर सत्याग्रह, स्वतंत्र मजूर पक्ष, शेड्युल्ड कास्ट फेडरेशन, आर.पी.आय., कामगार संग्राम, हिंदू कोडबिल, धम्मस्वीकार इस तरह असंख्य आन्दोलन से बाबासाहब की जिन्दगी डुबी हुई है। बाबासाहब के आन्दोलन को अनेक कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त हुआ। निःस्वार्थी,

स्वयं को आन्दोलन में झोंकनेवाले और ईमानदार कार्यकर्ता बाबासाहब को प्राप्त हुये।

इस आन्दोलन से इस देश में क्रांति का एक उचित आन्दोलन उभरकर आया। करोड़ों लोग गुलामगिरी को झटककर इन्सानियतपर अधिकार जताने लगे। अज्ञान, लाचारी, अंधश्रद्धा, दैववाद को छोड़कर मनुष्य नये सेक्युलर क्रांति के पथपर चलने लगे। देश में सबसे ज्यादा गुलामी भोगने वाला एक समाजस्तर इस देश के अन्य किसी से भी क्रांतिमान हो गया। अस्मिता की ज्वाला से वह खिल गया। अपने अलावा अन्य सभी अन्यायग्रस्त को समेटकर, पुकारकर यह क्रांतिमान समाज क्रांति के पथपर चलने लगा। उसके पास बाबासाहब का धर्मातीत-ईश्वरातीत क्रांति का विचार है। १९५६ में बाबासाहब का महापरिनिर्वाण हो गया, उस वक्त एक महाशक्ती का संचारन इस समाज में हुआ था। उसे विराट ताकत प्राप्त हो गई थी। एक निर्णायक युद्धभूमिपर, समता के युद्ध के लिए वह तैयार हुआ। यह दृश्य देश के इतिहास का अभूतपूर्व दृश्य था।

**अम्बेडकरी आन्दोलन : आज :** १९६०, ६५ तक अम्बेडकरी आन्दोलन की रफ्तार तेज थी। अम्बेडकरी जीवनमूल्य के पीछे यह आन्दोलन निरंतर दौड़ रहा था। किन्तु क्रम से इस आन्दोलन की तोड़मरोड़ होने लगी। बाबासाहब ने अपने विद्यमानता में सम्पूर्ण बहिष्कृत भारत को एक सूत्र में बाँध लिया था। सूत्र में शामिल व्यक्ति शक्तिमान हो रहे थे। **एकजूट होने से मनुष्य की शक्ति बढ़ती है। व्यक्ति की शक्ति आन्दोलन में शामिल होने से कई गुणा ज्यादा बढ़ जाती है।** अलग अलग सौ व्यक्ति के शक्ति का तौल जितना होगा उससे एकत्रित सौ व्यक्तियों की शक्ति का तौल कई अधिक होगा। एकत्रित व्यक्ति की शक्ति गणितीय रफ्तार से बढ़ती है। सौ लोगों का समूह बिखरे हुये सौ लोगों की शक्ति से अधिक भारी

होता है यह ध्यान में लेना जरूरी है। १९६०-६५ के पूर्वार्ध में हमें एकत्रित करनेवाले व्यक्ति की शक्ति का तजुर्बा है। किन्तु आगे चलकर बिखरे हुये व्यक्तियों का तौल व्यक्तिगत सतह पर भी कम होने लगा।

आन्दोलन के सर्वांग में निराशा आ गई। आन्दोलन मुरझा गया है। अम्बेडकरी आन्दोलन का यह शक्तिहीनता का काल है। चारों ओर से ढलान दिखाई दे रही है। उमंग ढह चुकी है। इन्सानों में स्नेह की नमी में अकाल आ गया। अम्बेडकर एक सूत्र है। एक अभूतपूर्व क्रांतिसूत्र है, किन्तु इन्सान उस सूत्र में एकत्रित पिरोये नहीं जा रहे है। इस देश के सम्पूर्ण अम्बेडकरी जनता को एक सूत्र में किस तरह पिरोया जा सकेगा? आन्दोलन के सर्वांग में प्राण किस तरह भरा जा सकेगा? अक्षर एकत्र आने से शब्द तयार होता है। शब्द किसी उद्देश्य से एकत्र आने पर वाक्य बन जाता है। वाक्य एक सूत्र में बँध जाये तो एक अर्थपूर्णता सिद्ध होती है। छुट्टे अक्षरों को अर्थ नहीं होता। अर्थ साकार होने के लिए अक्षरों को एकत्र आना ही पड़ता है। छुट्टे शब्दों को अन्य शब्द की संगति से शक्ति प्राप्त होती है। उसमें से निर्माण होने वाली महाशक्ति मूल्यांतर निर्माण करती है। सत्तांतर निर्माण करती है। पुरानी समाज रचना नष्ट करके नये समाज को जन्म देती है। मनुष्य का नया संविधान यह महाशक्ति सिद्ध करती है। नये मनुष्य को जन्म देती है। महाशक्ति समाजांतर करती है।

इसी तरह मनुष्य का है। मनुष्य के एकत्र आने से समूह तैयार होता है। अलग अलग वृत्त तैयार होता है। यह अलग अलग वृत्त, यह अलग अलग समूह एकत्र आनेपर संगठन, महासंगठन सिद्ध होता है। सभी मनुष्य एक सूत्र में बाँधे गये तो एक शक्तिमाला तैयार होती है। महाशक्ति तयार होती है। यह महाशक्ति समाज की दिशा बदल सकती है। वह मूल्यांतर कर सकती है। समाजांतर ला सकती है। मनुष्यों ने एकत्र आना चाहिये। मनुष्य एकत्र पिरोये जाने चाहिये।

किताबों के एक-एक छुट्टे पन्ने रहेंगे तो हवा के झोंके से उड़ जायेंगे। उनकी दुर्दशा हो जायेगी। किन्तु सारे पन्नों को एकत्रित कर उनको बाँधा जाये तो ग्रंथ तैयार होता है। ग्रंथ भारी होता है। वह हवा के झोंके से नहीं उड़ सकता। छुट्टे पन्ने एकत्र आ गये तो, एकत्र बाँधे जाने की प्रक्रिया मान्य की जाये तो उनकी शक्ति तैयार होती है। उनका वजन बढ़ता है। उसी तरह मनुष्यों का है। क्रांतिविरोधी शक्ति एक-एक मनुष्य का आसानी से अपहरण करती है। किन्तु यही मनुष्य एकत्र आ गये तो महासंगठन साकार हो जाता है। इस संघटना का अपहरण क्रांतिविरोधी शक्ति नहीं कर सकती। क्रांतिविरोधी शक्ति दुर्बल हो जाती है।

इस संदर्भ में एक जातककथा मिसाल के तौरपर दी जा सकती है। इस कथा में बताया गया है कि, तीतर पक्षी झुण्ड बनाकर जब तक एक साथ थे तब तक पारधी उनकी शिकार नहीं कर सका। क्योंकि उनमें एकता थी। एकता की शक्ति थी। किन्तु अहंकार से इन तीतर की एकता में दरार पड़ गई और वे एकदूजे से दूर चले गये। उनकी शक्ति विभाजित हो गई। शक्ति विभाजित होने से वे दुर्बल हो गये। जिससे शिकारी एक एक तीतर का आसानी से शिकार करने में कामयाब हो गया। संगठन शक्ति है। अकेलेपन से शक्तिकक्षय होती है। एकता ही ताकत है। विच्छेदन किसी की रक्षा नहीं करता। एकता गुलामी नष्ट करती है। नई समाजरचना को जन्म देती है। फूट मनुष्य को गुलामी की कैद में धकेलता है। यदि ऐसा लग रहा हो, हमारी भी हालात तीतर समान ना हो, हमारा शिकार करने का हेतू सफल ना हो तो हमें एकत्रित होने की ज्यादा जरूरत है। संगठन की सख्त जरूरत है।

तीतर की एकता भंग हो गई तो उनका विनाश निश्चित तौर पर हो गया। एकता ही महाशक्ति है। यह महाशक्ति भंग हो गई तो सब कुछ खतम हो जाता है। सब का नाश होता है। **जिन्हें संगठित होना आता है**

**उनका संघर्ष सफल होता है। प्रथम संगठित होना सीखना चाहिये। सीखने की प्रक्रिया क्रांति की दिशा में फलदायी करने के लिए संगठित होना जरूरी है और संघर्ष कामयाब करने के लिए संगठित होना जरूरी है।** अकेला मनुष्य संघर्ष नहीं कर सकता। किया तो भी कामयाबी प्राप्त नहीं होती। अकेले मनुष्य के हिस्से पराभव के अलावा कुछ भी नहीं आता। मायूसी, निराशा और क्षीणता के अलावा अकेले मनुष्य को और कुछ भी प्राप्त नहीं होता। पराभव एक तरीके का मृत्यू ही है। पराभव से अकेले इन्सान की धज्जियाँ उड़ जाती है। निराशा के अंधकार में डूबे हुये मनुष्य यहाँ वहाँ बिखरे हुये दिखाई देते है। बुझे हुये मन भी वहाँ दिखाई देते है। अकेला मनुष्य हार जाता है। पराजित मनुष्य पराभव भुलाने के लिए अलग राह पर चल देते है। इस यात्रा में मूल्य बूरी तरह से खत्म हो जाते है। मूल्यशून्यता में, संवेदनशून्यता में मनुष्य शिरकत करते हैं। एक दृष्टि से वह वर्तन आन्दोलन विरोधी हो जाता है। तटस्थता यह भी एक प्रकार से असहकार ही है। भिन्न भिन्न प्रकार के कैफ में दंग रहना यह भी पलायन की एक राह ही है। अकेलेपन से आनेवाले वैफल्य को दबोचने के लिए यह लोग इस राह को अपनाते है किंतु यह राह मनुष्यों को किस ओर लेकर जाता है? विनाश से फिर से विनाश की ओर। अंधकार से और गहरे अंधकार की ओर। अंधःपतन की दलदल में अधिक गहराई तक लेकर जाना यही इस राह का काम है।

इस अनर्थ को टाल सकते है। शक्तिमान हो सकते है। अन्याय को दफना सकते है। अन्यायकर्ता को धौंस दिखा सकते है। उसका पराभव कर सकते है। एकता मात्र होनी चाहिये। संगठित मात्र होना चाहिये। किन्तु अम्बेडकरी आन्दोलन आजकल मिट्टी में मिल गया है।

**राजनीतिक आन्दोलन :** हमारा राजनीतिक आन्दोलन कई गूटों में बँट गया है। हमारे आन्दोलन

को सबसे ज्यादा तोड़ा मरोड़ा केवल राजनीति ने। राजनीति में बाबासाहब को शामिल होना पड़ा। किन्तु राजनीति उन्हें जरा भी पसंद नहीं थी। एक बार उन्होंने कहा भी कि-

‘Politics is the one thing that I hate!’

“सबसे ज्यादा यदि किसी चिज से मुझे नफरत है वह है राजनीति।” (डॉ.बाबासाहब अम्बेडकर, चरित्र खण्ड नौ: खैरमोडे, मुम्बई, १९८७, पृ.२३), किन्तु १९५६ के बाद क्रम से अम्बेडकरी समाज के हरेक को राजकारण पसन्द आने लगा। इस पसन्द का परिणाम पार्टी में समूह बनने में तब्दील हुआ। खैर, यह राजनीति है क्या? कोई भी ओहदा, प्रतिष्ठा या पैसा प्राप्त करना। बहुसंख्य लोगों को राजनीति में रुचि है। उठते बैठते लोग राजनीति की हवा में तैरने लगे है। किन्तु फिर भी अम्बेडकरी समाज में राजनीति की मार्मिक चर्चा करने वाले नजर ही नहीं आते। आज देश की राजनीति का मर्म खोलकर विश्लेषण कोई दे ही नहीं सकता। इस राजनीति को रीढ़ की हड्डी क्यों नहीं है? यह राजनीति केवल दिखावा क्यों करती है? यह राजनीति बाँझ क्यों है? इतनी दुर्बल और निरर्थक क्यों हो गयी इसका विश्लेषण भी यह राजनीति नहीं दे सकती। समर्थ लोग है ही नहीं ऐसा नहीं है, है; किन्तु इन थोडे से समर्थ लोगों को असमर्थ क्यों होना पड़ता है। दूसरों की हथेली से पानी क्यों पीना पड़ता है?

यह समर्थ भी इस नहीं तो उस दल के ढाबे पर क्यों खाते है? यह परावलम्बी राजनीति वे क्यों करते है? अम्बेडकरी नेता के समक्ष नम्र होने के बजाय अन्य सत्ताधारी हस्ती के आगे घूटने क्यों टेकते है? अम्बेडकरी समाज के सभी नेता यदि एकदूजे के प्रति नम्रता से पेश आये तो वे सिर ऊंचा करके राजनीति के महाद्वार से भीतर प्रवेश कर सकेंगे। इस नम्रता को फल मिलेगा किन्तु अन्य सत्तावादी दल की लाचारी स्वीकार कर क्या प्राप्त होगा? दहलीज पर बँधे हुये कुत्ते की भूमिका यदि कोई सत्ताधारी दल दे रहा है तो

उसमें कौनसा सौभाग्य समझे? तोता अपने सोने के पिंजरे का एहसान माने या बँधा हुआ कुत्ता अपने गले में बंधी हुई सोने की जंजीर की तारीफ करे? इसाप का एक सुन्दर किस्सा है। वह इस सन्दर्भ में बेहद उद्बोधक है-

एक लफ्फाजी कुत्ता था। उसके मालिक ने उसके गले में एक सोने की जंजीर डाल दी। आज तक इस तरह की जंजीर पहनने का सम्मान मेरे समाज में किसी को भी नहीं मिला। वह केवल मुझे मिला। यह सम्मान केवल मुझे ही मिला इसका कारण

मैं बेहद कर्तृत्ववान हूँ ऐसा उस कुत्ते को लगने लगा। वह कुत्ता गले में जंजीर पहनकर अकखड़ते हुये चलने लगा। जानबूझकर जंजीर के विषय पर बोलकर अन्य पर इंप्रेशन मारने लगा। सब का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए ऊँची जगह पर खड़ा होकर जंजीर की ओर इशारा करके बातें करने लगा। ऐसे ही एक कार्यक्रम में उसकी मुलाकात एक वृद्ध कुत्ते से हुई। उस वृद्ध ने उससे कहा की यह जंजीर गौरव का प्रतिक नहीं बल्कि अपमान का प्रतिक है। फिर भी कई दिनों तक उस जंजीरवाले कुत्ते को यह बात समझ में नहीं आई। एक बार उसके मालिक ने उसे घर के बाहर खदेड़ दिया। तब उसे कोई भी अपमान को तैयार नहीं था, जंजीर को सम्मान समझने वालों का यही हथ्र होता है।

अम्बेडकरी आन्दोलन के राजनीतिक लोगों ने यह बात ध्यान में रखनी चाहिये। इन सभी राजनीतिकों ने गले की जंजीर को तोड़कर एकत्र आने की जरूरत है। सत्ताधारी से प्राप्त जंजीर फेंककर संगठित होना चाहिये। किन्तु अम्बेडकरी आन्दोलन की राजनीति सब्जी मण्डी समान हो चुकी है। इस राजनीति से

आन्दोलन कंगाल हो चुका है। कुछ नेता रईस हो गये। इस प्रक्रिया को उल्टा घूमना चाहिये। **आन्दोलन रईस होना चाहिये।** उसके लिए एकत्रित होना जरूरी है।

**सामाजिक आन्दोलन :** सामाजिक आन्दोलन की तो राजनीति से भी बड़े पैमाने पर दुर्गति हो रही है। कुछ प्राध्यापक, कुछ साहित्यिक, कुछ राजनीतिक दल से जुड़े हुये कार्यकर्ते अपने अपने तौर पर विशेषतः बाबासाहब की जयंती व महापरिनिर्वाण दिन के बहाने भाषण देते है। भाषण पहले से चलता आ रहा वही होता है।

भले चंगे लोगों की बाबासाहब को समझने में दुर्दशा होती है वहाँ कार्यकर्ता को क्या दोष दे? बाबासाहब के खिलाफ कहने वाले तथाकथित विद्वान तो हैं ही। बुद्ध और बाबासाहब अध्यात्मवादी थे यह भी यही विद्वान कहते है। सभा जितना। फंड जितना यही ध्येयवाद बढ़ गया है। भाषण सजाने की होड़ लग जाती है। तालियों गड़गड़ाहट सुनने की प्रतियोगिता शुरु होती है। वक्तृत्व के लिए मुकम्मल रटा हुआ, मसाला पेश किया जाता है। उसमें शेरों के साथ भाषण के कई वाक्यों की पुनरावृत्ति हो जाती है। इन सब में मर्म पर ऊँगली बिरले ही रखी जाती है। कोई नया विश्लेषण देने की कोशिश नहीं दिखती। नया पहलू पेश करने का प्रयास नहीं दिखता। इन सब बातों को नजरअंदाज किया जाय फिर भी प्रत्यक्ष कृति से बोलनेवाला सामाजिक आन्दोलन यदा कदा ही दिखाई देता है। रिडल्स का आन्दोलन, नामांतरण का आन्दोलन यह गौरवशाली आन्दोलन है।

**बाबासाहब ने तिलमिलाकर कहा था कि :-**

“तुम लोगों में दिवार खड़ी हो ऐसा बर्ताव ना करे; एकता बढ़ाये, फूट ध्वस्त करे, किन्तु बड़े ही दुर्दैव की

“यदि आने वाले दस सालों में हमने हमारी संघटना दृढ़ एवं मजबूत बुनियाद पर खड़ी करके कार्यरत नहीं की तो दस सालों बाद ‘मनुस्मृति-राज’ स्वीकारने का दुर्भाग्य हमारे नसीब में आयेगा।”

बात की हमारे लोगों में फूट की लत बढ़ रही है। सब तरफ कलह हो रहे हैं। इससे कार्य का नाश हो रहा है... समझदार कौन और बेजबाबदार कौन इसपर विचार करो; किन्तु मन में छिपे लालची मूर्खता के चंगुल में ना फँसे। किसी के भी हाथों से दिया जलने दो किन्तु आपसी भेद मिटाओ; और अपने मार्ग की रुकावटों को नष्ट करने का ज्ञान प्राप्त कर लो।” (जनता : २३.७.३८) इस तरह संघटना में सामर्थ्य का बाबासाहब ने विशदीकरण किया। यह सामर्थ्य प्राप्त हो गया तो प्रतिपक्ष से दो दो हाथ कर सकते हैं, उन्होंने कहा है। **“संघटना के अभाव से हमारी यह दुर्दशा है, अब और ना होने दे। समाज में भेद करनेवालों को कतई पनाह ना दे। इसके लिए अब हमें सख्त बंदोबस्त करना होगा।”** (जनता:१४.१२.४०) ऐसा उस वक्त बाबासाहब ने कहा। हमारी संघटना मजबूत होनी चाहिये वह स्वतंत्र ही होनी चाहिये। बाबासाहब ने कहा है-

“स्वतंत्र संघटना के अलावा हम स्वाभीमान से जी नहीं सकते।” (जनता :२६.११.४९)

इसका कारण जिन्हें इतिहास रचना है वह किसी की भी हांजी हांजी नहीं करता। जो भी प्राप्त करना हो वह इज्जत से ही। भीक नहीं मांगनी है। यह बाबासाहब को ज्ञात था। इसलिए वे इस तरह तिलमिलाकर बोल रहे थे। वे कहते थे-

**“हमारे पास मजबूत संघटन नहीं होगा तो देश की राजनीति में हमें कोई भी स्थान प्राप्त करना मुमकिन नहीं है।”** (Thus spoke Ambedkar, vol.2)

“यदि आने वाले दस सालों में हमने हमारी संघटना दृढ़ एवं मजबूत बुनियाद पर खड़ी करके कार्यरत नहीं की तो दस सालों बाद ‘मनुस्मृति-राज’ स्वीकारने का दुर्भाग्य हमारे नसीब में आयेगा।” (उपरोक्त संदर्भ)

**“सभी पददलित और अन्यायग्रस्त लोगों की अलग संघटना होनी चाहिये। नहीं तो उनका सर्वनाश अटल है।”** (उपरोक्त संदर्भ) बाबासाहब ने यह राय २७/१०/१९५१ में जालंदर के भाषण में व्यक्त की थी। आज यह राय कितनी संजीदा हो चुकी है यह हमें नज़र आ रहा है। ऐसा लगता है कि, बाबासाहब अपनी राय आज, आज के हालातों को मद्दे नज़र रखकर व्यक्त कर रहे थे। आज धर्मसंसद और मनुस्मृति का कानून इस देशपर लादने का षड्यंत्र रचा जा रहा है। इन हालातों में भी क्या हम बाबासाहब के उपरोक्त कथन पर गंभीरता से विचार करने वाले हैं या नहीं?

आज बहुत से नये संदर्भ हमारे चारों ओर खड़े हैं। इस वक्त अम्बेडकरी आन्दोलन की आचारसंहिता और विचारसंहिता निश्चित करने की जरूरत है। विचारों का मजमा और आचार की अराजकता मच गई है। इसकी रोकथाम होनी चाहिये।

**हमारे सामने खड़ी समस्याएँ :-** भूतकाल ने हमारे समक्ष अनेक समस्याएँ लाकर खड़ी कर दी। जातिसंस्था, अंधश्रद्धा, देववाद, दैववाद, परम्परावादी प्रवृत्ति, आपसी द्वेष के संस्कार आदि समस्या हमें भूतकाल ने ही दी है। इसलिए हम एकजूट हो भी नहीं सकते। इसी वजह से हम लोकशाही का वहन नहीं कर सके। परम्परा से चलते आ रहे इस देश का मन पूर्णतया लोकशाही विरोध मन है। यह मन अपने अपने जाति के अहंकार से ग्रसित है। इसी अहंकार से शोषणव्यवस्था उनका शोषण कर रही है यह इस मन की समझ में आता ही नहीं। **इन्सान मन से गुलाम है, किन्तु हम गुलाम है यह उन्हें पता ही नहीं यही इस देश की सबसे बड़ी समस्या है।** यह समस्या बुद्ध के समक्ष थी, फुले के समक्ष थी और बाबासाहब के समक्ष भी थी, हमारे समक्ष भी वह मौजूद है ही।

इन समस्याओं में दहेज, बेरोजगारी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, फंसिस्ट का विद्रोह, अंधश्रद्धा, मिथ्याभिमान, महंगाई आदि अनेक समस्याओं की वर्तमान में भी

भरमार है। राजनीतिक समावेशन, वाङ्मयीन समावेशन, सामाजिक समावेशन, वैचारिक समावेशन की भी समस्या से हमारा आन्दोलन ग्रस्त है। हेडगेवार के संघ में समावेश करने का विचार कोई रखता है और खुद को अम्बेडकरी कहलाता है। लोगों को गुमराह कर देना, उसे अपने अम्बेडकरवादी नकाब से आसानी से मुमकिन होता है। परसों ही कही पढ़ा था कि एक जमघट में १९९४ में बाबासाहब होते तो कौनसा सामाजिक विचार उन्होंने प्रस्तुत किया होता? इस प्रश्न पर बहस। अर्थात् १९५६ तक बाबासाहब ने रचे थे वह विचार गलत थे क्या? क्या इस जमघट को यह कहना था? इन्हें लगा की बाबासाहब के विचार १९५६ तक एकांगी थे। वह कुछ धर्मिय पर अन्यायकारक था। वह ईश्वर न माननेवाला नास्तिक विचार था। यह सम्पूर्ण विचार समावेशकता को करीब करनेवाला विचार नहीं था। इसलिए कुछ को यह लगा की १९९४ में बाबासाहब ने अलग विचार रचा होता। कौनसा? यह प्रश्न किसे उपस्थित हुआ? इसका उत्तर संयोजक ने क्या गृहित करना चाहिये?

हम सब ने कुछ बातों को टालना चाहिये— (१)घमंड, (२) बेईमानी, (३)स्वार्थ, (४) एक दूसरे की टांग खिचना, (५)कुत्सितपन, (६)शराब की लत, (७) धार्मिक प्रवृत्ति, अंधश्रद्धा, व्रत करना, बाबा-बुवा, (८) अम्बेडकर विरोधी विचारों से, आन्दोलन से सम्बन्ध रखना।

आदि और इस तरह की कुछ छुट-पुट बातों को टाला जाय तो हमारा आन्दोलन सिद्ध हो सकता है। उसकी दुर्दशा समाप्त हो सकती है। **नेता, कार्यकर्ता और समाज यह तीन घटक आन्दोलन के लिए प्रमुख है। नेता अर्थात् विचार, नेता अर्थात् तत्वज्ञान, यह तत्वज्ञान लोगों तक वहन करता है नेता, लोगों के मन पर अंकित करता है वह कार्यकर्ता; और इस तत्वज्ञान में अन्तर्निहित परिवर्तन करने के लिए जो**

**समूह आन्दोलन होता है वह समाज।** समाज आन्दोलन होता है, किन्तु इस आन्दोलन में नेता और कार्यकर्ता शामिल होता ही है। केवल शामिल होता है ऐसा नहीं बल्कि वह मार्गदर्शक तत्व अर्थात् आन्दोलन में शामिल समाज को निरंतर धधक कर रखने का कार्य करता है।

**राजनीति के अलावा कोई विकल्प नहीं:-** कुछ भी कहो फिर भी राजनीति को टालना मुमकिन नहीं। हम टालते है तो राजनीति हमें नहीं टालती। राजनीति हमारे जीवन के सभी पहलुओं को घेरा डाले है। राजनीति शक्ति है। सत्ता हांसिल करने के लिए, सत्ताधारी बनने के लिए कुशलतापूर्ण राजनीति आनी चाहिये। बाबासाहब ने राजनीति का महत्त्व और सख्त जरूरत अनेक प्रकार से स्पष्ट किये है, उन्होंने कहा—

१. “... हमारी लगातार उन्नति के लिए जिस पर निर्भर रह सकें ऐसी एक ही बात है, वह है राजकीय शक्ति को हांसिल करना। हमारे मुक्ति का एक ही मार्ग है। इस बारे में मुझे तो जरा भी संदेह नहीं है और इस शक्ति बिना हमारा सर्वनाश होगा।” (अ.भा.दलित वर्ग परिषद, नागपुर, १८, १९, जुलै ४२)

२. “अस्पृश्य समाज को आजादी, इज्जत व इन्सानियत चाहिये हो तो आपको राजनीति पर कब्जा करना चाहिये। फिलहाल हमारे पास कोई भी साधन नहीं है... इसलिए हमारा नाश व अवनति हो गई है। हम लोगों को उठने की भी ताकद नहीं रही। हमारी समाज संख्या भी अल्प है और वह भी बिखरी हुई है। इन सारे हालातों को सुधारने के लिए ही हमारे हाथ में राजकीय सत्ता चाहिये।” (पुणे ४.१०.४५ का भाषण: भाषण खंड १ संपा. गांजरे, पृ.१३१)

३. “टुकडे के लिए दूसरे के मुँह की ओर ताकने का वक्त हमारे समाज पर ना आये। पेट के सवाल से आजादी, सम्मान से रहने के लिए राजकीय सत्ता जरूरी है और उसे प्राप्त करने के लिए ही हम लड़ रहे है।” (उक्त : भाषण खंड १, पृ.१५३)

४. “शासनसत्ता में हिस्सा प्राप्त हो यह आपकी इच्छा होगी तो आपको जबरदस्त संगठन उभारकर एकजुट होना चाहिये।” (उक्त पृ. १६२)

५. “... हमें एक शक्ति प्राप्त हो सकती है, वह है राजकीय शक्ति! यह शक्ति हमें प्राप्त करनी ही चाहिये। इस शक्ति से लैस होकर हम हमारे लोगों का संरक्षण कर सकते हैं।” (बाबासाहबबाची भाषणे (मराठी): खंड ७ संपा. गांजरे, पृ. ५१) इसी भाषणे में **राजसत्ता प्राप्त करो यह उन्होंने कहा था, और आजाद भारत में हमें शासक जमात बनना है, इस आत्मविश्वास को थामके रखो ऐसा बाबासाहब ने लोगों से कहा था।** राजनीति और सत्ताप्राप्ति पर बाबासाहब ने इस तरह महत्व विशद किया था।

संगठन और राजनीति का रिश्ता स्पष्ट करते हुये बाबासाहब ने कहा था-

“हमारे पास मजबूत संगठन ना हो तो देश की राजनीति में हमें कोई भी स्थान नहीं होगा। ‘अच्छूत’ लोग यदि ‘एकसंघ’ की एक ही जाति में संगठित हुये तो हम राजनीति में कुछ स्थान प्राप्त कर सकते हैं। हमें मजबूत एवं एकसंघ संगठन करने के लिए दस सालों तक रुकना नहीं है। इस संगठन को अभी से बाँधना चाहिये; इस संगठन को आज ही हमें बाँधना चाहिये। हाँ, कल नहीं, परसों नहीं तो आज ही!” (भाषण: खंड ७ संपा. गाजरे पृ. ५५)

राजनीति के अलावा और कोई राह नहीं। शासनकर्ता बनने के अलावा उद्धार नहीं। सत्ता हांसिल किये बगैर सवाल सुलझनेवाला नहीं। देश सेक्युलर हो नहीं सकेगा। सत्ता सम्मान प्रदान करेगी। सत्ता हमारे समाजमूल्य को यथार्थता में तबदील करेगी। किन्तु यह सत्ता प्राप्त करने के लिए संगठन चाहिये। मजबूत संगठन। संगठन ही सत्ता की ओर लेकर जायेगी। हमारा दूजा स्थान नष्ट करेगी। देश को समता के सूत्र में बाँधेगी। इसके लिए चाहिये जबरदस्त नेतृत्व और

कार्यकर्ता।

**नेता कैसा हो?:-** बाबासाहब के पश्चात् **बाबासाहब के समाज का नेतृत्व करने वाला नेता बेहद बौद्धिक क्षमता का होना चाहिये इसमें कोई संदेह नहीं है।** बाबासाहब के नेतृत्व की विरासत को आगे बढ़ाना आसान नहीं। इसलिए बाबासाहब के पश्चात् यह समाज नेता बगैर है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। बाबासाहब का नेतृत्व विचारवंत का, महापंडित का नेतृत्व था। बाबासाहब के ज्ञान की धरोहर भी हमें ढंग से वहन करना नहीं आया। इस धरोहर का बोझ हम उठा ही नहीं सके। थोड़े-बहुत तैयार २-४ लोग प्रारम्भ में ही कन्फ्यूज हो गये। अम्बेडकर सूत्र छोड़कर भटकने लगे। मिलावट करने की अपप्रवृत्ति से इन अभ्यासियों ने आफत कर डाली।

दूसरी बात यह की इन दो चार अभ्यासियों में से कुछ लोग राजनीति के प्रत्यक्ष आन्दोलन के बाहर ही रह गये। इसलिए प्रथम दर्जे की प्रज्ञा एवं प्रतिभा अम्बेडकरी आन्दोलन में साहित्य के हिस्से आयी और राजकीय नेतृत्व ऐसे अभ्यासियों के अलावा अन्य के हिस्से आये। राजनीति के बौद्धिक पराजय की यह भी एक वजह हो सकती है क्या, इसपर विचार होना चाहिये। मौजूदा अभ्यासियों को सर्जनशील विचारवंत बनने की, उस दिशा की ओर छलांग लगाने की जरूरत थी और इन सर्जनशील विचारवंतों ने, दार्शनिकों ने अपने तत्वज्ञान निर्मिती की प्रभावशाली पूँजी लेकर राजनीति में उतरना चाहिये था, यदि ऐसा होता तो राजनीति में बाबासाहब की धरोहर हम सम्भाल सकते थे। किन्तु जिस हालात में है उसमें हमारी राजनीति प्रभावशाली नहीं हो सकती। बाबासाहब परप्रकाशित नहीं थे। वे स्वयंपूर्ण थे। उन्होंने इस देश का अंतर्बाह्य आकलन गहराई से किया था। इसलिए उनके विचार सीधे मर्म पर ऊँगली रख देते थे। सारे विश्लेषण उनके आगे-पीछे घूमते थे। उसके पीछे

कष्ट थे। देश के, इस समाज के और मानवी जीवन का मर्मज्ञान था। उसके लिए उनका लहू बुरी तरह सूख चुका था।

बाबासाहब ने कहा था, “राजनीति में किसी को रुचि हो, तो राजनीति का गहराई से अध्ययन करना चाहिये। अध्ययन के बगैर दुनिया में किसी को कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। हमारे समाज के प्रत्येक कार्यकर्ता ने राजकीय, धार्मिक और आर्थिक प्रश्न का गहराई से अध्ययन करना चाहिये। उन्होंने नेता की जिम्मेदारी क्या है, की जानकारी रखनी चाहिये। क्योंकि हमारे समाज के नेताओं पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। अन्य नेताओं का क्या? सभा में जाना, लम्बा-चौड़ा भाषण देना, तालियों की गड़गड़ाहट सुनना और अंत में हार गले में डालकर वापस आना यही काम अन्य नेताओं का है। हमारे समाज के नेताओं ने इतने पर ही रुकना नहीं चाहिये। अच्छा अध्ययन करना, समाज की उन्नति के लिए स्वयं दिन-रात निरन्तर मेहनत करना यह हमारे नेताओं को करना होगा तो ही वह लोगों का थोड़ा बहुत विकास कर सकेंगे और वही सच्चा नेता होगा।” (भाषण खण्ड ६, संपा.गांजरे, पृ.१९९) नेता पर इस तरह की बड़ी जिम्मेदारी है। अम्बेडकरी आन्दोलन को इस तरह के नेतृत्व की जरूरत है। हमें में इस तरह के नेता नहीं है ऐसा नहीं है।

**कार्यकर्ता :** कार्यकर्ता समाजसेवक की एक सेना ही होनी चाहिये। यह कार्यकर्ता भाड़े का टट्टू ना हो। उसे समाज उन्नति की चाह और आस्था होनी चाहिये। कार्यकर्ता में स्वार्थ ना हो एवं वह बिकाऊ ना हो। (चरित्र खंड :५, खैरमोडे, पृ.८९)

नेता और कार्यकर्ता ये इंजन व पहिये समान होते हैं। दोनों घटक एकदूजे पर निर्भर हैं। हमारे आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के पास सेना नहीं है। सैंकड़ो हजारों कार्यकर्ता की जरूरत हैं। वे प्रशिक्षित हो। विचारसंहिता एवं आचारसंहिता उनके पास होनी चाहिये। कार्यकर्ता के प्रशिक्षण की सुविधा होनी चाहिये। इस तरह का प्रशिक्षित, त्यागी और समाजसेवा को समर्पित कार्यकर्ता कहीं भी हो उसके मुख से संघटना के लक्ष्य, उद्देश्य की ही भाषा निकलें। यही कार्यकर्ता समाज के अंतिम छोर तक बाबासाहब अम्बेडकर के क्रांति विचार लेकर जायेगा। कार्यकर्ता मामूली चीज नहीं है। समाज क्रांति की प्रक्रिया में उसके बगैर गाड़ी आगे बढ़ने वाली नहीं है।

### एकजूट किस किस की?

सम्पूर्ण अम्बेडकरी जनता में एकता होनी चाहिये। अम्बेडकरी जनता की उपजातियाँ प्रथम नष्ट होना जरूरी है। इस संदर्भ में बाबासाहब ने का था।

“हमारी जनता जाति भेद की बिमारी से ग्रस्त है, यह दुःख की बात है। जिस तरह आज अन्य को अस्पृश्यता व भेदभाव नष्ट करने की माँग करते हो उसी तरह आपसी जातिभेद नष्ट करना यह आपकी जिम्मेदारी है।” (खंड २, संपा.गांजरे, प. १६३)

आज अम्बेडकरी जनता की अपप्रवृत्ति को विसर्जित कर एकीकरण करने की जरूरत है किंतु आज के संदर्भ इतने बदल चुके हैं कि आज फॅसिज़्म उभरकर आने के संकेत नजर आ रहे हैं। इसलिए भटके-विमुक्त आदिवासी, मुस्लिम-ख्रिश्चन और बहुजन समाज इन सब को अम्बेडकरी आन्दोलन, Secular समाजक्रांति के निशान तले एक होने की जरूरत है।



## हरिजनों (अछूतों) की स्थिति

अभिलेख-जे.एच.हटन

अनुवादक-मंगलनाथ सिंह

इस परिशिष्ट की विषय-वस्तु मेरी रिपोर्ट ऑन दि सेंसस आफ इंडिया के परिशिष्ट से ली गई है। उसे परिशिष्ट की संक्षेप में दिया गया है, किंतु दूसरे परिवर्तन नहीं किये गये हैं। यहाँ १९३१ के बाद की घटनाओं पर विचार नहीं किया गया है। किंतु १९३१ से १९४१ के बीच जब जापान से युद्ध छिड़ा इन जातियों की स्थिति में कोई खास फर्क नहीं हुआ है। यह युद्ध समाप्त होने के बाद से परिवर्तन की गति संभवतः तेज रही है। किंतु भारत स्थित लोगों से पत्र-व्यवहार और भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के जरिये जो कुछ मालूम हो सका है, उससे स्पष्ट है कि परिवर्तन की यह गति जैसा कि बहुत से भारतीय चाहते हैं, उनकी आशा से कम तेज है। विशेषकर उन इलाकों में जो दूर दराज पड़ते हैं और जहाँ संचार-व्यवस्था धीमी है, नये कानूनों के निर्माण और हरिजनों की हृदय से मदद करने की कोशिशों, विशेषकर केन्द्रीय सरकार की कोशिशों के बावजूद परिवर्तन की मात्रा नगण्य जैसी है किंतु इसके साथ ही एक बड़ी महत्त्वपूर्ण और आश्चर्यजनक बात यह हुई कि भारत का जो संविधान बना, संविधान-सभा में उसका कर्णधार स्वयं एक हरिजन व्यक्ति था। यह बात भविष्य के लिए वास्तविक और भारी महत्त्व की बात है।

मूलतः असम के जनगणना अधीक्षक ने हिंदू-जातियों में हरिजनों के लिए (जिन्हें इस पुस्तक के अंग्रजी संस्करण में इक्स्टीरियर कास्ट्स कहा है) प्रचलित डीप्रेसड (दलित) शब्द के स्थान पर 'इक्स्टीरियर' शब्द के प्रयोग का सुझाव दिया था और रिपोर्ट में इसी शब्द का इस्तेमाल हुआ है क्योंकि यह

दलित वर्ग से अधिक संतोषजनक समझा गया। इस 'इक्स्टीरियर' शब्द पर भी आपत्ति की गयी है। कहा गया है कि यह 'आउट कास्ट' ही हुआ। हां, इसमें तीन के बदले पांच **सिलबल** (अक्षर) हैं। किन्तु इस पर पुराना 'आउट' ही छपा हुआ है। किन्तु हमारा अनुरोध यह है कि Outcaste में Outcast का ही भाव है, हां सिर्फ फर्क इतना है कि दूसरे में e नहीं है। किन्तु Outcaste का अर्थ यही है कि ये हिंदू समाज में स्वीकृत नहीं है। किंतु व्यवहार में Exterior castes (हरिजनों)में वे लोग भी शामिल है जिन्हें जाति के नियमों के उल्लंघन के कारण हिंदू समाज से निकाल दिया गया है इसलिए कुछ अर्थों में Outcaste और Outcast पर्यायवाची है और Outcast के साथ जो अपमान का भाव जुड़ा है उससे Outcaste शब्द भी नहीं बच पाया है। इसलिए इसके स्थान पर Exterior शब्द के इस्तेमाल से उस दोष का भी मार्जन हो जाता है। (महात्मा गांधी ने इनके लिए हरिजन शब्द का इस्तेमाल कर इस पूरी कल्पना को ही नया आयाम दे दिया है-अनु.) इनके लिए कभी कभी **अवर्ण** शब्द का इस्तेमाल होता है जो इसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

भारत सरकार ने १९३१ की जनगणना के लिए जो हिदायतें दी थी उनके अन्त में कहा गया था:

“भारत सरकार यह भी चाहती है कि ऐसी सूचनाएं भी एकत्र की जाय जो पिछड़े और दलितवर्गों के संबंध में बेहतर जानकारी देने और वर्तमान में और भविष्य में उनके कल्याण की समस्याओं के समाधान में सहायक हों।

**टिप्पणी :-** प्रस्तुत आलेख एक अभिलेख है। जनगणना कमिश्नर (तत्कालीन) ने हरिजन शब्द का प्रयोग किया है जिसका आशय अछूत है। हम यहाँ मूल पाठ दे रहे हैं।

इस संबंध में १९३१ की भारत जनगणना के अधीक्षकों को नीचे लिखी हिदायतें जारी की गयी:

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि **ऐसी जातियों की सूची तैयार की जाय जिन्हें दलितवर्गों में शुमार किया जा सके।** अतः सभी सूचों को कहा जाता है कि वे अपने सूबे के लिए एक ऐसी सूची तैयार करें। इस तरह की सूची तैयार करने में बहुत बड़ी कठिनाइयाँ हैं और दलित वर्गों की ऐसी सूची तैयार करने में जो कठिनाइयाँ समूचे भारत के लिए लागू हों वे अलंघ्य हैं।”

इसके बाद नीचे लिखी एक हिदायत निकली :

“मैंने दलित जातियों की व्याख्या करते हुए कहा है कि ये वे जातियाँ हैं जिनके स्पर्श से सर्वत्र हिंदुओं को स्नानादि कर शुद्ध होने की आवश्यकता होती है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इस शब्द को व्यवसायों के संदर्भ में लें। किन्तु इसका संबंध उन जातियों से है जिनको हिंदू-समाज में उनकी परंपरागत स्थिति के कारण कुछ अयोग्यताओं का सामना करना पड़ता है; उदाहरणार्थ उन्हें मन्दिरों में प्रवेश नहीं दिया जाता था जिन्हें पृथक् कुओं का इस्तेमाल करना पड़ता है या जिन्हें स्कूलों में अन्य बच्चों के साथ नहीं बैठने दिया जाता, और उन्हें भवन से बाहर रहना पड़ता है या जो इसी प्रकार की अयोग्यताओं का शिकार हैं। ये अयोग्यताएं भारत के विभिन्न भागों में घटती-बढ़ती रहती हैं। ये दक्षिण भारत में अन्य भागों की अपेक्षा अधिक कठोर हैं। किन्तु फिर भी जो जातियाँ इस वर्ग में आती हैं उनका ज्ञान आमतौर पर सभी को है और भारत के अधिकांश भागों में एक निश्चित इलाके के लिए इनकी सूची तैयार की जा सकती है। हां, यह संभव है कि ये सूचियाँ समूचे भारत के लिए समान न हों।”

जनगणना शुरू होने से पूर्व जनवरी १९३१ में जनगणना के सभी अधीक्षकों की एक बैठक में ऐसी सूचियाँ तैयार करने के प्रश्न पर विचार किया गया।

इस बात पर सहमति हुई कि हर सूबे में ऐसी जातियों की एक सूची तैयार की जाएगी जिनको समाज में उनकी नीची हैसियत की वजह से अयोग्यता का सामना करना पड़ता है और उन्हें मंदिरों, स्कूलों, कुओं के इस्तेमाल से रोका जाता है। दलित जातियों की कोई खास परिभाषा निर्धारित नहीं की गयी और इस संबंध में जनगणना अधीक्षकों को कोई नये आदेश नहीं दिये गये क्योंकि यह स्पष्ट अनुभव किया गया कि एक प्रांत से दूसरे प्रांत की स्थिति अलग-अलग है। यहाँ तक कि कुछ प्रांतों में तो एक जिले से दूसरे जिले की स्थिति अलग है। इसलिए अधीक्षकों को छोटी-छोटी बातों के बारे में हिदायतें देकर बांध देना बुद्धिमत्ता पूर्ण न होगा। इस कार्य के लिए प्रक्रिया यह निर्धारित की गयी कि स्थानीय जांच से पता लगाया जाय कि किन जातियों को दलित मानते हैं और क्यों और तदनुसार सूची तैयार की जाय। यह निश्चित किया गया कि मुसलमानों और इसाइयों को ‘दलितवर्ग’ में न रखा जाय। और आमतौर पर पहाड़ी और वन्य जन-जातियों को जो हिंदू नहीं है किन्तु जिनका धर्म ‘कबायली’ लिखाया जाय, उन्हें भी इस सूची में शामिल न किया जाय। नीचे हरिजनों की जो संख्या दी गयी है उसमें इन सिद्धांतों का पालन किया गया है। मताधिकार (Franchise) समिति को असम प्रांत के दलित और पिछड़े वर्ग के बारे में एक नोट उक्त प्रांत के जनगणना अधीक्षक ने दिया था। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार इन सिद्धांतों पर अमल करना था और उन पर जनगणना अधीक्षकों ने अमल किया। इसका निचोड़ इस परिशिष्ट के अंत में दे दिया गया है।

सामाजिक और राजनीतिक दोनों कारणों से यह आवश्यक है कि इस वर्ग की जातियों की संख्या समूचे भारत में कितनी है इसका पता लगाया जाय। यही नहीं, हर प्रांत में इनकी संख्या का भी पता लगाना आवश्यक है। **यह प्रकरण राजनीति के क्षेत्र में उनके प्रतिनिधित्व की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है,**

**बल्कि पिछड़ेपन से इनके उत्थान के लिए ताकि ये उन्नत सामाजिक समुदायों के बराबर आ जाँए जो भी प्रयत्न किये जायेंगे उस तरह के सामाजिक कार्यों के लिए भी इसका महत्त्व है।**

सन् १९२१ के जनगणना-आयुक्त ने (सेंसस आफ इंडिया, १९२१ भाग - I, खंड - I, पैरा १९३) विभिन्न प्रान्तों में दलित वर्ग के लोगों की संख्या, ५२,६८०,००० दी थी। इसे उन्होंने कम से कम बतलाया था। उनका कहना था कि यह संख्या कम अनुमान है क्योंकि इसमें ऐसे बहुत से लोग शामिल नहीं किये गये हैं जिन्हें शामिल करना चाहिए था। वे कहते हैं: “हम पक्के विश्वास से कह सकते हैं कि समूचे भारत में ऐसे दलित वर्गों के लोगों की संख्या ५,१/२ से ६ करोड़ के बीच है जिनको अस्पृश्य माना जाता है।” जनगणना आयुक्त ने इनकी संख्या ५,१/४ करोड़ दी थी उसमें से ४ करोड़ पैतीस लाख ब्रिटिश भारत में थे। यह संख्या तकरीबन वही है जितनी १९१९ में मताधिकार समिति ने बतलायी थी। उक्त समिति ने इनकी संख्या ४ करोड़ २० लाख दी थी। नायर केन्द्रीय समिति ने १९२९ में ब्रिटिश भारत में दलितवर्गों की संख्या ४ करोड़ ४५ लाख दी थी। आयुक्त द्वारा दी गयी इनकी संख्या और इस संख्या में ज्यादा फर्क नहीं है। किन्तु हर्टोग समिति ने इनकी संख्या करीब ३ करोड़ दी थी जिससे इस संख्या में काफी अंतर है। जाहिर है कि अब समय आ गया है कि जब इनकी संख्या के बारे में जो अनुमान लगाये गये हैं उनसे आगे इनकी और निश्चित संख्या का पता लगाया जाय। किंतु इनकी सही-सही संख्या कितनी है, इसका निश्चय करने के मार्ग में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं।

दलित वर्गों की संख्या का पता लगाने के लिए जरूरी है कि ‘दलित’ की परिभाषा की जाय। किंतु यह एक कठिन कार्य है। इस संबंध में नीचे लिखे संभावित मापदंडों पर विचार करना होगा:

१. क्या स्वच्छ ब्राह्मण उस जाति या वर्ग का पौरोहित्यादि कार्य करता है?
२. क्या नाई, कहार, दर्जी आदि जो सवर्ण हिंदुओं का काम करते हैं वे उनका काम करते हैं या नहीं?
३. क्या उस जाति या वर्ग के लोगों को अस्पृश्य मानते हैं?
४. क्या उस जाति या वर्ग के हाथ या पानी सवर्ण हिंदू पीते हैं या नहीं?
५. क्या उस जाति या वर्ग के लोगों को सार्वजनिक सुविधाओं, जैसे सड़कों, घाटों, कुओं या स्कूलों के इस्तेमाल पर मनाही है?
६. क्या उस जाति या वर्ग को हिंदू-मन्दिरों के इस्तेमाल की मनाही है?
७. क्या आम व्यवहार में उस जाति या वर्ग के लोगों को उनके समान योग्यता वाला शिक्षित उच्च जाति का हिंदू बराबरी का दर्जा देता है या नहीं?
८. क्या वह जाति या वर्ग मात्र अपने अज्ञान, निरक्षरता या गरीबी के कारण दलित माना जाता है, ओर यदि ऐसा न हो तो क्या उसे किसी प्रकार की अयोग्यता का सामना नहीं करना होगा?
९. क्या वह जाति अपने पेशे के कारण दलित मानी जाती है और यदि वह उस पेशे को छोड़ दे तो क्या उसे उन अयोग्यताओं का सामना नहीं करना पड़ेगा?

स्पष्ट है कि इन मापदंडों में कई ऐसे हैं जिनमें कुछ घटक अज्ञात हैं। जैसे स्वच्छ ब्राह्मण कौन है? ऊंची जाति कौन है और कौन नीची? इनके बीच की विभाजन रेखा क्या है क्योंकि ये दोनों विशेषण तुलनात्मक हैं। अस्पृश्यता क्या है? मंदिर के इस्तेमाल का अधिकार क्या है क्योंकि मंदिरों के बारे में भी श्रेणियाँ हैं। कुछ को मंदिर के प्रांगण तक जाने का अधिकार है और कुछ मंदिर तक पहुँच ही नहीं सकते। इस बात का निश्चय करने में कि हरिजन कौन है,

इनमें से कोई भी मापदंड अकेले काफी नहीं होगा। जहां तक राज्य का संबंध है, महत्वपूर्ण मापदंड यह है कि क्या उसे सार्वजनिक सुविधाओं-सड़कों, कुओं और स्कुलों के इस्तेमाल का अधिकार है कि नहीं। यदि इसे ही मुख्य मापदंड मानें तो धार्मिक और सामाजिक अयोग्यताएं जिनका अप्रत्यक्ष रूप में उनको सामना करना पड़ता है, उन्हें सहायक घटक मान सकते हैं। इनको कुछ महत्व देना ही होगा क्योंकि यदि आम जनता कुछ समुदायों के लोगों को इतनी नफरत की दृष्टि से देखती है कि उन्हें दूर ही रखना चाहती है, तो उस समुदाय के लोगों को घोर अयोग्यता का सामना करना पड़ता है। इतना कहना ही काफी न होगा कि यह सड़क आम रास्ता है और यदि ख क से ३० गज की दूरी पर भी हो तो भी क ऐसा मानता है कि उसे छूत लगती है किंतु ख पर ऐसी कोई विवशता नहीं है कि वह वहाँ से हट जाय ताकि क रास्ते से गुजर जाय तो इसमें क को अयोग्यता का सामना करना पड़ता है न कि ख को। क्योंकि फिर क के सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं कि दूत से बचने के लिए वही सड़क से हट जाय। किंतु यह तर्क तभी मान्य होगा यदि ख और उसके मित्र इस स्थिति में हों कि वे क को रास्ता छोड़ने के लिए बाध्य कर सकें। किंतु यदि क और उसके मित्रों का कुछ कार्यों के लिए बायकाट करते हैं ताकि ख पर इस बात के लिए दबाव डाला जाय कि वह अपने कानूनी अधिकारों को छोड़ दे और क के धार्मिक पूर्वाग्रहों के अनुरूप क को दूर से देखकर ही रास्ता छोड़ दे, तो जाहिर है कि इस प्राकर ख को व्यवहार में अपनी मर्जी के मुताबिक सड़क पर आचरण करने की स्वतंत्रता नहीं होती, यह बात दीगर है कि इसमें उसके धार्मिक सिद्धान्तों पर चोट पहुँचती है या नहीं। हमने सड़कों के इस्तेमाल का सवाल सिर्फ उदाहरण देने के लिए उठाया है। किंतु तथ्य यह है कि अब सड़कों के इस्तेमाल पर रोक प्रायः समाप्त हो रही है और इस हद तक समाप्त हो

चुकी है कि कम से कम ब्रिटिश भारत में तो हम इस प्रश्न को नजर अंदाज कर सते हैं। जहां तक कुओं के इस्तेमाल का प्रश्न है, इस संबंध में हरिजनों की अयोग्यता घटती बढ़ती है। कहीं उन्हें गाँव के कुओं तक पहुँचने की भी इजाजत नहीं है, कहीं जैसे बंगाल में कुछ जातियों के लोग गाँव के कुएं से पानी नहीं खींच सकते। उन्हें तब तक पानी के लिए इंतजार करनी पड़ती है जब तक कि किसी स्वच्छ जाति का व्यक्ति आकर कुएं से पानी निकाल कर उन्हें न दे दे। स्कूलों की समस्या भी हरिजनों के लिए वास्तविक समस्या है। भारत के बहुत से भागों में यदि वे स्कूल में बैठकर पढ़ते हैं तो उन्हें दूसरी तरह से परेशान किया जाता है। यद्यपि पढ़ना-लिखना कम से कम ब्राह्मणों के और दूसरी जातियों के बच्चों के लिए आम बात है, हरिजनों के बच्चों के पढ़ने-लिखने पर आपत्ति की जाती है। उनके बच्चों की स्कूलों में उपस्थिति को ऊँची जातियों के लोग नापसंद करते हैं। यदि हरिजन बच्चे पढ़ना ही चाहते हैं तो उनको स्कूल के बाहर धूप में धूल में बिठाया जाता है। अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि अस्पृश्यता का संबंध पेशे से है। अतः यदि कोई अस्पृश्य व्यक्ति या जाति अपना गंदा पेशा छोड़ दे तो स्पृश्य हो जाती है। शाब्दिक अर्थों में तो यह सही है किंतु नैतिक मायने में यह सही नहीं है, क्योंकि कुछ हरिजनों ने दो तीन पीढ़ियों से अपना पुरतैनी पेशा छोड़ रखा है किंतु उन्हें अभी तक सभ्य समाज के बाहर ही रखा गया है। उनकी उपस्थिति पर सवर्ण हिंदू अभी तक रुष्ट होते हैं। सामाजिक उत्सवों में उन्हें बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता।

इसलिए किन लोगों को हरिजन माना जाय, इसका निश्चय करने के लिए हर प्रांत को अपनी तरह से काम करने की छूट देना आवश्यक था। इसलिए उनसे कहा गया कि वे अपने प्रान्तों की सूचियां तदनुसार तैयार करें। आमतौर पर यह बतलाना मुमकिन नहीं कि हिंदू समाज की अमुक जाति हरिजन है और उसे

समूचे भारत में हरिजन माना जाय। कुछ जातियों जैसे डोमों और भंगियों के बारे में तो यह मुमकिन है। किंतु ऐसा नहीं कि एक जाति जो एक भाग में दलित है वह दूसरे भाग में भी दलित हो। इसलिए प्रत्येक अधीक्षक को अपनी सूची अलग से बनानी पड़ी। सूची बनाने में ऊपर बतलाये मापदंडों को धन में रखा गया। किसी जाति को तभी दलित माना गया जब यह पाया गया कि हिंदू समाज में अपनी अप्रतिष्ठित स्थिति के कारण उसे निश्चित रूप से गंभीर सामाजिक और राजनीतिक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। स्थिति ऐसी रही है कि अकेले मध्य प्रदेश में जन गणना के लिए जिन जातियों को दलित माना गया कोई ऐसी सूची नहीं बन सकी जो समूचे सूबे के लिए हो। हर जिले में भिन्न-भिन्न जातियों की संख्या अलग-अलग रही। ऐसी अनेक जातियां और जन-जातियां रही हैं जिन्हें इस सूची में शामिल किया जा सकता था किंतु उन्हें छोड़ना पड़ा क्योंकि अपनी हिंदू समाज में उनकी हीन सामाजिक अवस्था के कारण उन्हें स्पष्ट तौर पर किसी अयोग्यता का सामना नहीं करना पड़ता। अनेक आदिम जातियों की स्थिति अस्पष्ट है क्योंकि वे वास्तव में हिंदू ही नहीं है। ये जन जातियां जब हिंदू समाज का अंग बन जाती हैं तो स्वतः दलितों की श्रेणी में आ जाती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन्हें किसी पेशे या खान पान के प्रति पूर्वाग्रह नहीं होता जो सवर्ण हिंदू समाज में टैबू हैं। इसके विपरीत इन्हीं जन-जातियों में जिन लोगों की हैसियत ऊँची है वे प्रायः अपने को हिंदू जाति-व्यवस्था में राजपूत या क्षत्रिय मनवा लेते हैं जब कि उनके अन्य जाति भाई अवर्ण ही रहते हैं। कुछ जन जातियों ने तो अपनी समूची बिरादरी की द्विज जातियों के समान दर्जे का दावा मनवा लिया है। इन परिस्थितियों में ऐसे गिरिजनों और वन्य जन-जातियों को जो हिंदू नहीं बनी हैं सूची में शामिल नहीं किया गया है क्योंकि जब तक वे नियमित हिंदू-समाज में मिलकर जाति-व्यवस्था के

अंग नहीं बन जाते वे किसी अयोग्यता के शिकार नहीं हैं। इसी प्रकार जरायम पेशा जन जातियों को भी इस सूची में तब तक शामिल नहीं किया गया है जब तक कि उनकी अवस्था ऐसी न रही हो कि यदि वे अपना अपराध पेशा छोड़ देने और शांति पूर्ण जीवन बिताने पर भी अपने पेशे के कलंक के कारण नहीं बल्कि अपनी सामाजिक हैसियत के कारण दलित न माने जायें। कुछ ऐसी भी जातियां है जिन्हें सवर्ण हिंदू औपचारिक रूप में अछूत मानते हैं। और उनके हाथ का पानी नहीं पीते किंतु इन जातियों के ऐसे मजबूत संघटन है और इनमें ऐसे बहुत से संभ्रान्त और शिक्षित लोग हैं कि उन्होंने अपनी सामाजिक हैसियत ऊँची कर ली है और इनके लिए किसी खास सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए कोचीन रियासत के जनगणना अधीक्षक ने ईडुवन को दलितों में शामिल नहीं किया। बंगाल और असम के साहा, तेलों, और महिष्य तो स्वयं दलितों की सूची में शामिल होने का विरोध करते रहे।<sup>9</sup>

असम प्रांत के जनगणना अधीक्षक ने असम में दलित और पिछड़े वर्गों के बारे में एक नोट दिया था जो असम सेंसस रिपोर्ट, १९३१ के परिशिष्ट में छपा है। इस बात का यह एक अच्छा उदाहरण है कि वे तथ्य और कारण क्या थे जिनकी वजह से किसी जाति को दलित जाति मानने का फैसला किया गया। असम प्रांत में हरिजनों की संख्या सवर्ण हिंदुओं की अपेक्षा इतनी अधिक है या यह कहें कि एक ऐसे प्रांत में जिसमें पिछड़े और हरिजनों की संख्या ऊँची और इनकी अपेक्षा सवर्ण हिंदुओं की संख्या बहुत कम है, कि अन्य प्रांतों में दलित वर्गों को जितनी अयोग्यता का सामना करना पड़ता है उनके मुकाबले यहां इन वर्गों के लोगों की अयोग्यताएं बहुत कम हैं। अयोग्यता-निर्धारण का मापदंड यहा भी वही है जो अन्यत्र असम के जनगणना आयुक्त ने गैर-हिंदुओं और गिरिजनों

और वन्य जातियों को पिछड़े वर्गों में रखा है। यहाँ अगले पृष्ठ पर जो तालिका दी गयी है उसमें इनको शामिल नहीं किया गया है। फिर भी समूचे भारत में इनकी संख्या ५ करोड़ से कुछ ऊपर आती है।

इस प्रकार दलित वर्गों की संख्या समूचे भारत में ५ करोड़ से कुछ ऊपर है। इनको इस समय (१९३३) की सामाजिक स्थिति का आकलन आवश्यक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि इनको जिन अयोग्यताओं का सामना करना पड़ता है उन्हें हम मोटे-तौर पर दो श्रेणियों में रख सकते हैं। पहली, जिसमें उन्हें सार्वजनिक सुविधाओं जैसे सड़कों, तालाबों आदि के इस्तेमाल से वंचित रखा जाता है और दूसरी श्रेणी उन धार्मिक अयोग्यताओं की है जिनके कारण उन्हें मंदिरों, श्मशानों, मठों और इस तरह की दूसरी संस्थाओं के इस्तेमाल की इजाजत नहीं। इनके अलावा, समाज के अन्य सदस्यों के साथ इनके संबंधों में भी कुछ अयोग्यताओं का सामना करना पड़ता है जिनकी वजह धार्मिक है। जैसे नाई इनके बाल नहीं बनाते। चाय की दूकानों, रेस्त्रां, होटलों आदि में उनके मालिक इनको प्रवेश की इजाजत नहीं देते। मद्रास में १९२९ में हुए अस्पृश्यता-विरोधी सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास हुआ था जिसमें इस बात पर खेद प्रकट किया गया था कि रेस्त्राओं, काफी होटलों, हेयर ड्रेसिंग सैलूनों, प्याउओं आदि में सामने ही ऐसी सूचनाएं लगी होती हैं कि इनमें अस्पृश्यों का प्रवेश निषिद्ध है। रेल गाड़ी या मोटर लारी में तो ऊंची जाति वालों के साथ झाड़ू देने वाला मेहतर बैठ सकता है और उसके इस अधिकार पर कोई आपत्ति नहीं करता, किंतु अभी तक गांवों में जो अफसर दौरों पर जाते हैं वे जब एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव को प्रस्थान करते हैं तो कुछ जातियों के गाड़ी वाले उन अफसरों के साथ मेहतरों के सफर करने पर आपत्ति करते हैं। वस्तुस्थिति है कि कुछ जिलों में तो सिर्फ इसी कारण किसी छोटी जाति वाले को गाड़ीवान रखना पड़ता है।

सिद्धान्ततया आदि हिंदू-मंदिरों में इनके प्रवेश का अधिकार मान लिया जाय तो अन्य सभी अयोग्यता के निवारण में यही एकदम काफी होगा क्योंकि मंदिर सिर्फ एक धार्मिक स्थान नहीं है, अपितु वह अनेक अर्थों में सामाजिक क्रियाकलापों का भी केन्द्र है। मंदिरों में हमें असम के **नामघरों** को भी शामिल करना पड़ेगा। ये नामघर भारत के अन्य भागों की भांति गाँव या नगर के सभाकक्ष भी होते हैं। मंदिर में पाठशाला भी होता है। इस प्रकार मंदिर-प्रवेश पर रोक हरिजनों को शिक्षा से भी वंचित रखती है। कतिपय हिंदू मंदिरों में जैसे पूना के पार्वती-मंदिर, नासिक के काल-राम मंदिर, असम के होजो मंदिर में पहले गैर-हिंदुओं को एक सीमा तक रोक नहीं थी तो भी सामान्यतः अस्पृश्यों को मन्दिर में प्रवेश करने की इजाजत नहीं थी। किंतु वर्तमान परिस्थितियों में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मंदिरों में प्रवेश का अधिकार मान लेने पर दलितों को जिस सामाजिक अयोग्यताओं का सामना करना पड़ता है वे दूर हो जाएँगी क्योंकि इसका फल यह भी हो सकता है कि हरिजनों को प्रवेश के बाद ऊंची जातियों के लोग मंदिरों में जाना बंद कर दें।<sup>१</sup> जो भी हो इस प्रकार के अधिकार भी भिन्न-भिन्न भागों में घटते बढ़ते हैं। मलावार के गुरुवयूर मंदिर की चहारदीवारी से ३२५ फूट के घेरे में कोई ईडुवा या तीयन नहीं जा सकता। यह चहारदीवारी ३५० फुट के वर्ग को घेरती है जिसके बीचो-बीच मंदिर है। फिर कोचिन राज्य में ईडुवों को दलित वर्ग में नहीं रखा गया है क्योंकि यद्यपि उन्हें मंदिर में प्रवेश का अधिकार नहीं है, फिर भी उनकी सामाजिक स्थिति अन्यथा काफी अच्छी है और वे अशिक्षित नहीं है।

जहां तक धार्मिक अयोग्यताओं की अपेक्षा नागरिक अयोग्यताओं का प्रश्न है जिनका सामना दलित वर्गों को करना पड़ता है, उनमें प्रथम अयोग्यता सार्वजनिक सड़कों के प्रयोग की है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है अभी हाल तक उनको कुछ भागों

में इस प्रकार की योग्यता का सामना करना पड़ता था। त्रावणकोर में अस्पृश्यों को वैकोम मंदिर को घेरने वाली सड़क के इस्तेमाल की इजाजत नहीं थी। १९२४ ई. में उन्होंने इसके लिए संघटित प्रयास किया। ये सड़कें सार्वजनिक थीं। राज्य की ओर से सबके उपयोग के लिए इनकी मरम्मत और रखवाली होती थी। किंतु ये मंदिर के पास थीं इसलिए अस्पृश्यों को उन सड़कों को जो मंदिर को घेरती थी इस्तेमाल नहीं करने दिया जाता था। इसके लिए एक **सत्याग्रह** किया गया जिसके फलस्वरूप मंदिर का घेरा बड़ा कर दिया गया और सड़कों पर अस्पृश्यों को चलने फिरने की इजाजत दे दी गयी। सड़कें इस रूप में बना दी गयीं कि इनका जो भी इस्तेमाल करे वह मंदिर से उतनी दूर रहे कि उसकी छूत मंदिर तक न पहुँच सके। १९२६ में और बाद में १९३० में त्रावणकोर के ही शर्चीद्रम् मंदिर को लेकर फिर विवाद उठा। शर्चीद्रम् त्रावणकोर के सबसे धनी मंदिरों में है। यहाँ भी दलित वर्ग के लोग एक ऐसी सड़क के इस्तेमाल की इजाजत चाहते थे जो सार्वजनिक थी। आमतौर पर सड़कों के इस्तेमाल के बारे में अब वैसी स्थिति नहीं रही जैसी कि उस समय थी जब मंगलोर जिला गजेटियर लिखा गया था। यहाँ आंदे कोड़ग लोगों को इतना अस्पृश्य मानते थे कि वे अपने गले सके थूकदानी लटका कर चलते थे ताकि उनकी थूक से सड़कें अपवित्र न हो जाँय। अभी हाल ही में रिपोर्ट मिली है कि तमिलनाडु में एक जाति ऐसी है कि उसके दर्शन मात्र से छूत लग जाती है। इसलिए इस जाति के सदस्य रात में काम करते थ्ये। ये बिज्जू या लकड़बग्गे जैसे जानवरों की तरह अंधेरा हो जाने पर बाहर निकलते थे और सुबह होने से पहले अपनी माँद में वापस आ जाते थे। 'हिंदू' ने अपने २४ दिसम्बर १९३२ के अंक में लिखा है '(तिन्नेवेल्ली) जिले में एक अदर्शनियों का वर्ग है जिसका नाम पुराद वण्णान है। दिन में इन्हें बाहर निकलने की इजाजत नहीं है क्योंकि इनको देख लेने मात्र से छूत मानते है।

ये दूसरे हरिजनों के कपड़े धोते है। ये मध्यरात्रि से सबेरे तक काम करते है। इनमें से कुछ को ए.बी.ठक्कर से मुलाकात के लिए बुलाया गया था। बड़ी मुश्किल से ये आने को राजी हुए। अब ये आये तो भय से इनके हाथ पैर काँप रहे थे।'

कुओं के इस्तेमाल की चर्चा ऊपर आयी है। यह अयोग्यता अधिक क्षेत्र में फैली है और वास्तविक रूप में कष्टकर है। सड़कों के इस्तेमाल पर यदि कहीं रोक हो तो उससे कम कष्टप्रद यह नहीं है। आमतौर पर जहाँ हरिजनों ने सार्वजनिक कुओं के इस्तेमाल का अधिकार ले लिया है वहाँ सवर्ण हिंदुओं ने उन कुओं का इस्तेमाल ही बंद कर दिया है। कुओं के बारे में शुष्क इलाकें में जहाँ पानी की कमी है, हरिजनों को अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। असम में यह कठिनाई ऐसी नहीं है जिसका जिक्र किया जा सके। बंगाल में जहाँ कुओं के पानी की जरूरत पड़ती है वहाँ इस कठिनाई को दूर करने के लिए कोई सवर्ण हिंदू कुएँ से पानी खींचकर हरिजनों को दे देता है। इस प्रकार की व्यवस्था में कुछ खामियां है। किंतु यह उतनी गंभीर नहीं है जितनी उत्तरी और दक्षिणी भारत में रीतिरिवाजों के कारण हैं। इन इलाकें में तो सवर्ण हिंदुओं को उस कुएँ का पानी पीने का निषेध है जिसका हरिजन इस्तेमाल करते हैं। यही बात धर्मशालाओं और श्मशानों और कब्रगाहों के इस्तेमाल करने के बारे में है। हरिजनों, को कुओं की ही भाँति इनके इस्तेमाल की मनाही है।

जहाँ तक स्कूलों का प्रश्न है बंबई के शिक्षा विभाग के निदेशक ने १९२८-२९ के बारे में रिपोर्ट देते समय लिखा कि किसी भी स्थानीय निकाय के स्कूलों में हरिजनों के बच्चों का प्रवेश मना नहीं करते। हां, इसके अपवाद हैं: रत्नागिरि जिला बोर्ड, नासिक जिला बोर्ड (कुछ स्कूलों में) और अहमदाबाद और सूरत के जिला बोर्डों के स्कूल। अहमदाबाद और सूरत के जिलों में विद्यार्थी आमतौर पर मंदिरों, धर्मशालाओं

और लोगों के निजी घरों में बैठते हैं। इनमें दलित वर्गों के बच्चों के प्रवेश पर लोगों ने एतराज किये, किंतु जब उनसे कहा गया कि यदि वे ऐसा करेंगे तो स्कूलों को जो सरकारी अनुदान मिलते हैं बंद कर दिये जायेंगे, तो लोगों ने एतराज वापस ले लिए। सवर्णों ने एतराज वापस तो ले लिये, पर इसका असर कितना पड़ा, यह संदेहास्पद ही है। कम से कम सूरत में एक जगह तो हरिजनों ने सवर्णों के अप्रत्यक्ष दबावों के कारण स्कूलों से अपने बच्चे वापस बुला लिये। इसी प्रकार बहुत बार तो दलित वर्ग के बच्चे स्कूल के बाहर बैठना ही पसन्द करते हैं। यदि वे भीतर बैठे तो उनका बायकाट किया जाता है और उन्हें स्कूल छोड़ने को बाध्य कर देते हैं। उदाहरण के लिए खेड़ा की नगरपालिका के स्कूल में कुछ डेढ़ बच्चे अन्य बच्चों के साथ स्कूल में बैठे। खेड़ा महत्मा गांधी का कार्य-क्षेत्र था। इसलिए लोगों ने इस पर एतराज तो नहीं किया, किन्तु जब सवर्ण बच्चों के माता-पिताओं ने यह सुना तो उन्होंने धमकी दी कि यदि स्कूल में उनके बच्चे के साथ डेड़ों के बच्चे भी बैठेंगे तो वे स्कूल और अध्यापकों दोनों का बहिष्कार कर देंगे, इसका नतीजा यह हुआ कि अगले दिन डेड़ों के बच्चों को स्कूल के अहाते में आने से मना कर दिया गया। उधर सिंध और बम्बई के मध्य और दक्षिण के डिविजनों में स्थानीय निकाय के किसी भी प्राइमरी स्कूल में दलित वर्गों के बच्चों के प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं है। इसी प्रकार असम में भी इन बच्चों को किसी तरह की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत भारत के अन्य भागों में हरिजनों को बम्बई की अपेक्षा कहीं अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। दक्षिण भारत में नागपट्टम्, कुंभकोणम्, तिन्नेवेल्लि, कोकनाड, बेजवाड़ा और नरसापुर के जिन स्कूलों में हरिजन-बच्चों को नाम मात्र का भी प्रवेश दिया गया, वहां सवर्ण हिन्दुओं के बच्चे पढ़ने नहीं जाते। तथापि मद्रास, मथुरा, शिवगंगा और कुछ दूसरे नगरों के ऐसे स्कूलों

में भी जो दलित वर्गों के लिए विशेषतः सुरक्षित नहीं किये गये और जिनका सवर्ण हिन्दुओं ने बहिष्कार नहीं किया है हरिजनों के बहुत से बच्चे पढ़ने जाते हैं। दक्षिण भारत के अधिकांश भागों में अभी हरिजनों के बहुत से बच्चे पढ़ने जाते हैं। दक्षिण भारत के अधिकांश भागों में अभी हरिजनों के लिए विशेष स्कूलों के प्रबंध की आवश्यकता है क्योंकि उच्च जातियों की इनके साथ अपने बच्चे पढ़ाने के लिए राजी करना संभव नहीं है। जुलाई १९३१ में जब यह निश्चय किया गया कि सरकारी सहायता प्राप्त सभी स्कूलों में हरिजनों के बच्चों को प्रवेश दिया जाएगा तो बहुत से ऐसे स्कूल बंद हो गये। कुछ दूसरे स्कूलों से भी ऊँची जाति के हिंदुओं ने अपने बच्चे वापस कर लिये। इसी तरह जब बड़ोदा राज्य में १९३१ में पृथक् स्कूलों की व्यवस्था खत्म कर दी गयी तो सवर्ण हिन्दुओं में बहुत रोष फैला। कुछ स्कूलों में उन्होंने अपने बच्चे भेजने बंद कर दिये जब कि कुछ स्थानों पर तो उन्होंने हरिजनों की फर्स्ले नष्ट कर दीं या ऐसे कुओं में मिट्टी का तेल डाल दिया जिसका इस्तेमाल हरिजन करते हैं। बंगाल में सन् १९३० ई. में ग्रामीण प्राइमरी शिक्षा विधेयक पास हुआ। इस बिल का सवर्ण हिंदुओं ने विरोध किया था। यह कहा जाता है कि इस विरोध के पीछे भावना यह थी कि असवर्ण हिंदुओं और गरीब मुसलमानों को शिक्षा के लाभ से वंचित रखना चाहिए। इसके विपरीत कोचीन राज्य में सभी शिक्षा संस्थाओं में हरिजनों के प्रवेश की दिशा में बहुत कुछ किया गया है। इसके लिए कभी कभी तो स्कूल को ही दूसरी जगह ले जाना पड़ा। कुछ मामलों में तो इन जातियों के साथ दुर्व्यवहार की शिकायत भी मिली। किंतु आमतौर पर पिछले दशक (१९२१-३१) में कोचीन के स्कूलों में हरिजन बच्चों की संख्या १५०० से बढ़कर १४,००० हो गयी। १९३१ में मान्यता प्राप्त ७०० स्कूलों में सिर्फ ३ ही ऐसे थे जो ऊँची जातियों के लिए सुरक्षित थे। इस राज्य में दलित और पिछड़े



वर्गों के रक्षक का एक पद भी बनाया गया है। किंतु अनेक मामलों में कोचीन अपवाद ही है।

जहां तक हिंदू मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश का प्रश्न है महात्मा गांधी ने कहा है कि इनमें हरिजनों को जबरन प्रवेश की कोशिश नहीं करनी चाहिए क्योंकि ईश्वर का निवास तो स्वयं उनके हृदय में है। किंतु मंदिर जैसा कि हम कह चुके हैं मात्र धार्मिक स्थान ही नहीं है और कुछ लोगों का तो यही मत है कि मंदिरों में प्रवेश का अधिकार अस्पृश्यता निवारण की कुंजी है। किंतु हरिजनों के मंदिर प्रवेश के विरोधी सिर्फ ऊँची जाति के हिंदू ही नहीं हैं; ब्राह्मण-विरोधी जस्टिस पार्टी के मुख्य पत्र जस्टिस ने इस संबंध में लिखा है:

“शताब्दियों तक ये लोग जीवात्मवादी थे और अपने घरों में ही पूजा से संतुष्ट थे। हिंदू-मंदिरों में जबर्दस्ती प्रवेश से ये लोक प्रिय न हों। न तो हम यही मानते हैं कि मंदिरों में इनके प्रवेश पर निषेध जारी रखना अन्याय है। अच्छा होगा कि ये अपनी हालत सुधारने की खुद कोशिश करें, न कि ऐसे अधिकार पाने के लिए हिंसक उपाय करें जिनके बारे में अभी कुछ साल पहले तक किसी ने सुना भी नहीं था।”

दूसरी ओर प्रबुद्ध हिंदू हरिजनों के मंदिर प्रवेश पर निषेध समाप्त करने के लिए आंदोलन कर रहे हैं।<sup>१</sup> इस आंदोलन को जनगणना (१९३१) के बाद महात्मा गांधी के अनशन और उसके बाद की समझौता वार्ता से बड़ा बल मिला है। बम्बई में फरवरी १९३० में आठ तेलुगू मंदिरों में हरिजनों को प्रवेश मिल गया। दूसरी ओर हरिजनों द्वारा मंदिर प्रवेश की कोशिश से हिंसा की भी घटनाएं हुई हैं। नासिक में करीब २,००० हरिजन ३ मार्च १९३० को कला राम मंदिर के सामने एकत्र हुए। एक बैठक में इस संबंध में समझौता पर वार्ता चल रही थी। उस पर पत्थर फेंके गये। अंत में नासिक में करीब डेढ़ लाख महार और चमार इकट्ठे हुए। मंदिर करीब एक महीने तक बंद रहा ताकि हरिजन उसमें प्रवेश न कर सकें। एक निजी रास्ते से

सवर्ण हिंदू दर्शन के लिए जाते थे। इस पर हिंसा भड़क उठी। इसमें कट्टर पंथियों ने ही पहले हमला किया था। यह उपद्रव पड़ोस के महार गांवों में भी फैल गया जहां सवर्णों ने हरिजनों पर हमले किये। उनके कुओं को दूषित कर दिया गया। उनके मकान जला दिये गये। एक साल बाद फिर जबरन प्रवेश का यही फल रहा। दिसम्बर १९३१ में जब हरिजनों ने नासिक में रामकुंड में स्नान की कोशिश की तो फिर वैसी ही स्थिति हो गयी। अप्रैल में रथ खींचने के अवसर पर इन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति हुई। इसी प्राकर दक्षिण भारत में सिंगनल्लूर में सन् १९३० में मंदिर प्रवेश के प्रश्न पर दोनों पक्षों में खुलकर लड़ाई हुई। दूसरे स्थानों में भी इसी प्रकार की घटनाएं हुई। नागपुर में एक मंदिर के अधिकारियों ने स्वेच्छा से मंदिर के द्वार हरिजनों के लिए खोल दिये। ढाका में मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह पूरे नौ महीने तक चला। अंत में उच्च जातियों की महिलाओं के एक दल ने जो **सत्याग्रहियों** का समर्थन कर रही थीं जबर्दस्ती मंदिर के द्वार खुलवाये। यह घटना मई की है। अक्टूबर में रिपोर्ट मिली है कि सवर्ण हिंदुओं ने मंदिर में जाना छोड़ दिया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि अभी हाल ही में रत्नागिरि में जो सर्व-हिंदू मंदिर बना है उसका भविष्य क्या होगा।

हिंदू मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश के निषेध से स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि क्या हरिजनों को हिंदू कहा जा सकता है। आमतौर पर इसका उत्तर यही होगा कि वे अवश्य ही हिंदू हैं। ठीक है कि उन्हें मंदिर में प्रवेश का अधिकार नहीं किन्तु वे हिंदू देवी-देवताओं की उपासना करते हैं। मंदिर में जहां तक उनका प्रवेश हो सकता है वहीं संदूक रख दिये गये हैं जिनमें वे अपना चढ़ावा रख सकते हैं। किंतु हिंदू धर्म की मात्र में भी अंतर है। जैसे महार और चमार तो बिना किसी शंका के हिंदू हैं। किंतु पंजाब के चूहड़ों के बारे में संदेह है। यदि वह हिंदू गाँव में रहाता है तो अपने को हिंदू कहता है और मुसलमान गाँव में अपने

को मुसलामन और सिख गांव में सिख। संभवतः चूहड़ों का धर्म कबायली कहना चाहिए। तथापि इस जनगणना में पंजाब में चूहड़ों का मसला हल हो गया। इन सभी ने अपने को **आद-धर्मी** बतलाया। इनको अपनी जाति या कबीले के रीति रिवाजों से मतलब है। किंतु इसका अर्थ भी अलग अलग किया जा सकता है। पंजाब में आद-धर्मी लिखवाने के पीछे इनका उद्देश्य विधान-मंडलों में प्रतिनिधित्व लेना है (अन्य प्रांतों में हरिजनों ने प्रायः अपने को आदि-हिंदू, आदि-द्रविड़ आदि लिखवाया। कभी-कभी सवर्णों को हिंदू कह देते हैं, और हरिजनों को उसमें शामिल नहीं करते। तथापि यह मानना ही होगा कि आमतौर पर इन जातियों का धर्म हिंदू है। इसलिए हरिजन जातियों को हिंदू-समाज में प्रवेश न होने पर भी हिंदू ही कहना होगा।

सामाजिक अवरोधों के कारण ये अपना धर्मपरिवर्तन कर सिख, मुसलमान या ईसाई बन जाते हैं। किंतु धर्म-परिवर्तन के बाद भी इनके साथ जो सामाजिक कलंक जुड़ा हुआ है वह एकाएक नहीं मिट जाता। इसकी आशा भी व्यर्थ ही है। गैर मजहबी सिख मजहबी सिखों को हेय दृष्टि से देखते हैं। दक्षिण भारत के ईसाई अपनी पुरानी जातियों के आधार पर चर्चा में बैठने के लिए स्थान सुरक्षित करते हैं। यदि कोई हरिजन मुसलमान बन जाता है तो भी उसके प्रति घृणा का भाव तुरंत नहीं बदल जाता। किंतु यह सही है कि एक बार धर्म-परिवर्तन कर लेने पर कुछ समय बाद समाज में इनकी प्रतिष्ठा जरूर बढ़ जाती है, दक्षिण भारत के भारतीय ईसाइयों में हरिजनों को धर्म परिवर्तन की तीन पीढ़ियों में आमतौर पर अधिकांश जातियों के बराबर दर्जा मिल जाता है।

हरिजनों को अन्य बातों में भी सामाजिक कठिनाइयां भोगनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ यदि वे ऊँची जातियों के लोगों की तरह आभूषण पहनते तो इस पर आपत्ति की जाती है। कुछ मामलों में तो इन्हें सोने के

आभूषण पहनने की इजाजत ही नहीं दी जाती। ऐसी घटनाएं भी हुई हैं कि चमारों को राजपूतों की तरह कपड़े पहनने के कारण पीटा गया। किसी हरिजन दूल्हे द्वारा बारात में घोड़े की सवारी करने पर उसके पड़ोसी उच्च जातियों के लोगों ने उस जाति का बहिष्कार किया। दिसम्बर १९३० में रामनाड के कल्लारों ने आठा निषेध निकाले। इन निषेधों का उल्लंघन करने पर कल्लारों ने हरिजनों को मारा पीटा। उनकी झोपड़ियाँ जला दीं। सम्पत्ति नष्ट कर दी। जानवर लूट लिये। ये आठ निषेध निम्न लिखित थे:

- (१) आदि-द्रविड़ साने या चाँदी के आभूषण नहीं पहनेंगे।
- (२) इनके पुरुष घुटने के नीचे और कमर के ऊपर कोई कपड़ा नहीं पहनेंगे।
- (३) इनके पुरुष कोट, कमीजें या बनियान नहीं पहनेंगे।
- (४) किसी आदि-द्रविड़ को अपने सिर के बाल कटाने की इजाजत न होगी।
- (५) आदि-द्रविड़ अपने घरों में सिर्फ मिट्टी के बर्तनों का इस्तेमाल करेंगे।
- (६) इनकी स्त्रियां अपने शरीर के ऊपरी हिस्से में कोई वस्त्र या खक्वे या तावनी नहीं पहनेंगी।

हरिजनों ने इन आठ निषेधों का पूरी तरह पालन नहीं किया तो जून १९३१ में कल्लारों की सभा हुई जिसमें ग्यारह निषेध जारी किये गये जो पिछले निषेधों से भी कड़े थे। इनको लागू करने की कोशिश में हिंसा की घटनाएं हुईं। ये ग्यारह निषेध निम्नलिखित थे:

- (१) आदि द्रविड़ और देवेंद्र कुल बेललार अपने घुटनों से नीचे कपड़े नहीं पहनेंगे।
- (२) उक्त दलित जातियों के पुरुष तथा स्त्रियां सोने के आभूषण नहीं पहनेंगे।
- (३) इनकी स्त्रियां केवल मिट्टी के बर्तनों में पानी ले जाएंगी। पानी भरने के लिए पीतल या तांबे के बर्तनों का इस्तेमाल न करेंगी। गागरों को पुआलों पर रखेंगी, इसके लिए कपड़े के इस्तेमाल की

- मनाही होगी।
- (४) इनके बच्चे नहीं पढ़ेंगे। वे साक्षर या शिक्षित बनने की कोशिश न करेंगे।
- (५) इनके बच्चों को कहा जाएगा कि वे मिरासदारों के पशु चराने का ही काम करेंगे।
- (६) इनके पुरुष और स्त्रियां मिरासदारों के पणै पर दासों की भाँति काम करेंगे।
- (७) वे मिरासदारों से **वारम्** या पट्टे पर जमीन लेकर खेती नहीं करेंगे।
- (८) वे कम दाम लेकर अपनी जमीन गाँव के मिरासदारों को बेच दें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनके खेत सींचने के लिए पानी नहीं दिया जाएगा। यदि बरसात के पानी से उसमें कुछ फसल उठती है तो पकने पर उसे लूट लिया जाय।
- (९) वे मिरासदारों के यहाँ ७ बजे सुबह से ६ बजे शाम तक कुलियों के रूप में काम करेंगे। इसके लिए मर्दों को प्रतिदिन चार आना और स्त्रियों को २ आना मजदूरी दी जाएगी।
- (१०) उपर्युक्त जातियों के लोग अपने विवाहों या अन्य समारोहों में भारतीय संगीत (मेलम्) आदि का इस्तेमाल नहीं करेंगे।
- (११) विवाह के पहले टाली सूत्र बांधने के लिए जुलूस में जाते समय उनको घोड़ों की सवारी की आदत छोड़नी पड़ेगी। उनको अपने घरों के किचाड़ ही पालकी के रूप में इस्तेमाल करने होंगे। वे किसी भी काम के लिए किसी सवारी का इस्तेमाल नहीं करेंगे।
- इसी प्रकार बंगाल में एक नामशूद्र दूल्हा द्वारा बारात में पालकी पर चढ़ने के कारण उपद्रव हो गये। अन्य भागों में भी इस तरह की घटनाओं का जिक्र किया जा सकता है।
- हमारा यह कहने का अभिप्राय नहीं कि कल्लारों ने जो ११ निषेध जारी किये उनको उनके सिवाय कोई दूसरा गंभीरता से लेगा। किंतु उनका उल्लेख यहाँ

इसलिए किया गया ताकि यह बात जाहिर हो सके कि हरिजनों के प्रति आम दृष्टिकोण क्या है।

आर्थिक दृष्टि से पूर्वी भारत की हरिजन जातियाँ आत्म-निर्भर हैं। कम से कम वे नितांत निर्धन तो नहीं हैं। पश्चिम भारत में वे प्रायः भंगी का काम करते हैं या गाँव के अन्य छोटे मोटे काम। इनकी सेवाओं की समाज को आवश्यकता है, इसलिए पुरानी रीति के अनुसार गाँव समाज की कुछ भूमि उनके लिए छोड़ दी जाती है या उन्हें समान के रूप में कुछ दे दिया जाता है। दिक्कत यह है कि अक्सर इनकी संख्या जरूरत से ज्यादा है फिर भी ये सभी अपनी सेवाओं के लिए-जिनकी जरूरत नहीं- भरण पोषण चाहते हैं। यदि इनको इस तरह भोजन न मिले तो ये अनाज चुरा लेते हैं जिसे ये अपना अधिकार मानते हैं। दक्षिण भारत में हरिजन जातियाँ खेतिहर मजदूर हैं जो हाल तक जमीनों से बंधे थे। उत्तर भारत में इनकी आर्थिक अवस्था बदलती रहती है। जैसे औद्योगिक नगरों में चमड़े का काम करने वालों को आसानी से रोजगार मिल जाता है जबकि देहातों में हरिजनों को खराब से खराब जमीनें और कुएं दिये जाते हैं। वहाँ ये अक्सर निर्धन हैं।

हरिजन जातियों की उत्पत्ति अंशतः नस्ली, अंशतः धार्मिक और अंशतः सामाजिक रीतिरिवाजों की बात है। इसमें कोई शक नहीं कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति टैबुओं से हुई है। इस प्रकार के टैबुओं की यादगारें बर्मा में बच रही हैं। जहाँ कब्रें खोदने का पेशा समाज में बहुत हीन माना जाता है और इनके साथ कलंक का भाव जुड़ा है जिसकी वजह से समाज में दूसरे लोग इनके साथ संपर्क नहीं रखते। इनके पड़ोसी पहाड़ी जनजातियों में कब्रें खोदने वालों से इनकी तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि इनके प्रति वितृष्णा का भाव एक प्रकार से मृत्यु की लूट के भय के कारण है। समूचे भारत में धोबियों की स्थिति हरिजनों की है। इनके साथ इस प्रकार के व्यवहार का कारण भी इसी

प्रकार का टैबू है। ये स्त्रियों के मासिक स्राव के कपड़े धोते हैं। इससे छूत फैलने का भय मानते हैं। यह भय शुरु में आभिचारिक था। अब इसका संबंध व्यक्तिगत स्वच्छता से जोड़ने लगे हैं। जो अस्पृश्यता पहले टैबू से उत्पन्न हुई उसे नस्ल-भेद ने और गहरा कर दिया। नस्लगत घृणा का भाव सर्वत्र मिलता है। इसने आभिचारिक टैबूओं को और गहरा कर दिया है। इसका भी उदाहरण बर्मा में मिलता है। वहां भारत की तरह की जाति-व्यवस्था नहीं है। किंतु इससे जातियों के निर्माण की प्रक्रिया स्पष्ट होती है। बर्मा में पगोडा दासी को जो पुश्तैनी होते हैं अन्य सभी नीची दृष्टि से देखते हैं। आमतौर पर ये गैर-बर्मी मूल के हैं। बर्मा के राजाओं ने बहुत से अराकनियों, तलैगों, मणिपुरियों को युद्ध-बंदी बनाया था और उन्हें विभिन्न पगोडों में दास बनाकर छोड़ दिया। कतिपय जातियों को सोने के गहने पहनने के निषेध के पीछे भी यही नस्ल की बात हो सकती है। उदाहरणार्थ नागा पहाड़ियों में आओ जनजाति में एक समुदाय ऐसा है जो स्पष्ट ही दूसरी नस्ल का है। इस समुदाय के लोगों को दोनों बाहुओं पर हाथी दाँत के आभूषण पहनने की इजाजत नहीं है। इसी प्रकार के निषेध लक्षद्वीप में भी मिलते हैं। संभवतः यही भाव अनुलोम विवाह में भी काम करता है। हरिजनों का कोई भाग जो अपनी सामाजिक हैसियत ऊंची करना चाहता है सबसे पहले अपनी बिरादरी के दूसरे लोगों को अपनी लड़कियां देना बंद करता है। हाँ, उनकी लड़कियों से विवाह पर आपत्ति नहीं करता। उदाहरणार्थ हलिया कैवर्तो ने इसी तरह जलिया कैवर्तो से अपने को अलग किया और अपनी अलग जाति बना ली। अब वे दलित जाति भी नहीं हैं। इसी तरह नामशुद्धों का एक वर्ग भी अलग होने का यत्न कर रहा है। सच तो यह है कि हरिजनों में एक दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह हरिजनों और सवर्ण हिंदुओं के बीच पूर्वाग्रहों से किसी भांति कम नहीं है।

१९१६ में और बाद में १९२० में भारत सरकार

ने सभी स्थानीय सरकारों से दलित वर्गों की नैतिक और भौतिक व्यवस्था के बारे में रिपोर्ट मांगी थी और उनकी अवस्था में सुधार के लिए सुझाव भी आमंत्रित किये थे। इस संबंध में जो रिपोर्ट आयी वे **प्रोसीडिंग्स आफ दि गवर्नमेंट आफ इंडिया इन दि होम डिपार्टमेंट, सं.१९३०-३१, जुलाई १९१६ और ३२९-४१, अगस्त १९२०** में मिलेगी।

१९२१ से १९३१ के बीच वाले दशक में इनके लिए बहुत कुछ किया गया, विशेषकर मद्रास में हरिजनों के लाभ के लिए अनेक उपाय हुए। मद्रास-सरकार ने एक श्रम-आयुक्त की नियुक्ति की जिसे दलित वर्गों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करने और उनके आर्थिक अधिकारों की निगरानी का काम सौंपा गया। इसके अलावा अनेक गैर-सरकारी संस्थाओं ने भी इस दिशा में काम किये। ईसाइयों के कई मिशन काम कर रहे हैं।

१९३१ में जब गणना होनी थी तो राजनैतिक सुधार होने की प्रबल आशाएं थीं। इससे हरिजन जातियों के बार में सही सही रिपोर्ट प्राप्त करने का मामला काफी उलझ गया था। अनेक परस्पर विरोधी शक्तियां सक्रिय थीं। हरिजनों में बहुत से लोगों के मन में इस भाव का उठना स्वाभाविक था कि वे कैसे अपनी सामाजिक हैसियत ऊंची करें। इसलिए वे अपने को वह बतलाना चाहते थे तो उनके पड़ोसी उन्हें नहीं मानते थे। इन्हीं परिस्थितियों में हिंदू महासभा ने तो एक आंदोलन ही छोड़ दिया कि सभी अपने को सिर्फ हिंदू लिखायें। इसके साथ अपनी जाति या संप्रदाय के विशेषण लगाने की जरूरत नहीं। १९२८ में स्वयं हिंदू महासभा ने एक प्रस्ताव पास कर कहा कि तथाकथित अस्पृश्यों को अन्य हिंदुओं की भांति स्कूलों में पढ़ने, सड़कों और मंदिरों के इस्तेमाल का समान अधिकार है। इसी प्रस्ताव में पुरोहितों, नाइयों और धोबियों से यह भी कहा गया था कि वे अस्पृश्यों की भी सेवा करें। १९३१ की जनगणना में अन्य बातों की अपेक्षा संभवतः राजनैतिक प्रभाव अपेक्षाकृत गहरा पड़ा। इस

बात के कई प्रयत्न हुए कि अस्पृश्य अपने को सिर्फ हिंदू लिखवाये, और कुछ नहीं। किंतु हरिजन जानते थे कि यह बात स्वयं उनके हित में होगी कि उनकी संख्या का ठीक ठीक आकलन हो। इसके साथ ही वे इस बात के प्रति भी उदासीन न थे कि यदि दलित जातियों में अधिक से अधिक जातियों की गणना होगी तो इससे उनकी सामूहिक संस्था और महत्त्व बढ़ जाएगा और अंततोगत्वा इसका लाभ उन्हें मिलेगा। अंतः जहां पंजाब में अखिल भारतीय श्रद्धानन्द दलित वर्ग मिशन हरिजन जातियों को 'अछूत' या 'दलित' के स्थान पर 'आर्य हिंदू' लिखाने का आग्रह कर रहा

था, वहीं स्वयं **इन जातियों के नेता अपने जाति-भाइयों को अपना धर्म हिंदू नहीं बल्कि आद-धर्मी लिखाने की सलाह दे रहे थे।** दूसरे सूबों में अनेक हरिजन जातियों के संघटन अपनी जाति की गणना 'दलितों' में कराना चाहते थे। अनेक मामलों में जाँच से वे 'दलित' नहीं सिद्ध हुए। किंतु आमतौर पर ऐसा विश्वास है कि १९३१ में हरिजनों की जो संख्या दी है वह प्रायः सही है। हमने पहले ही जिक्र कर दिया है कि 'हरिजन जाति' कौन है इसका निश्चय करने के लिए क्या तरीका अपनाया गया था।

१९११ की जनगणना से अस्पृश्यों की संख्या के निर्धारण की शुरुआत हुई। १९२१ और १९३१ की जनगणना में भी इन हिदायतों के अनुपालन की कोशिश जारी रखी गई।

साइमन कमीशन जो १९३० में भारत आया था, इन्हीं कोशिशों के परिणामस्वरूप कुछ-कुछ निश्चयपूर्वक यह बता सका कि ब्रिटिश भारत में अस्पृश्यों की जनसंख्या चार करोड़ ४५ लाख है।

किंतु १९३२ में जब लोथियन समिति पुनर्गठित विधान सभा के लिए मताधिकार के प्रश्न पर विचार करने के लिए भारत आई और उसने जांच करनी शुरू की तब हिंदुओं ने अचानक अपने तेवर बदल दिए और भारत में अस्पृश्यों की संख्या के बारे में जो आंकड़े साइमन कमीशन ने दिए थे, उनको भारत में अस्पृश्यों की जनसंख्या के बारे में सही आंकड़ों के रूप में मानने से इंकार कर दिया। कुछ प्रांतों में तो हिंदुओं ने यहां तक कहा कि उनके प्रांत में कोई अस्पृश्य है ही नहीं। इनका कारण यह था कि तब तक हिंदुओं को अस्पृश्यों की स्थिति को खुले आम स्वीकार करने के खतरे का अहसास हो चुका था, क्योंकि इसका मतलब यह था कि हिंदुओं को जनसंख्या के आधार पर विधान सभा में जितना प्रतिनिधित्व मिला हुआ था, उसका कुछ अंश उनसे छिनकर अस्पृश्यों को मिल जाएगा।

-डा.अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खण्ड-९, पृ.२३

## महात्मा जोतिराव फुले तथा ब्राह्मणेत्तर आंदोलन

-रावसाहेब कसबे

अनुवाद-उषा वैरागकर आठले

बाबासाहेब अम्बेडकर का आंदोलन कोई दैवी चमत्कार नहीं था। इसकी पृष्ठभूमि में ब्राह्मणेत्तर आंदोलनों की लंबी श्रृंखला रही है। आधुनिक युग में ब्राह्मणेत्तर एवं दलित-आंदोलन की शुरुआत ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के समय से ही हो गई थी। ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरुद्ध छेड़े गए राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का मूल्यांकन अभी भी ठीक से नहीं हो पाया है। जैसे-जैसे ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन तेज होता गया, वैसे-वैसे छोटी-छोटी जातियां अधिक

संगठित होने लगी। ब्रिटिश शासकों ने अपनी सत्ता की सुरक्षा के लिए उन्ही जातीय संगठनों का उपयोग किया। जिनके आंदोलन, जाति की संकुचित सीमा से बाहर नहीं फैल पाए थे। जब कोई आंदोलन किसी सैद्धांतिक आधार के बिना, किसी वैचारिक दृष्टि के बिना पनपता है; जो अपने पूर्व-इतिहास को यथार्थवादी दृष्टि से नहीं देखता, जिन्हें अपनी सामाजिक अंतर्धाराओं का ज्ञान नहीं होता, ऐसे आंदोलन अपनी जातीय सीमा से बाहर नहीं निकल पाते। किसी आंदोलन का स्वरूप कितना ही विद्रोही क्यों न हो, वह वैज्ञानिकता का कितना ही दावा क्यों न करें, उसे महत्त्व और श्रेष्ठता तभी मिल पाती है, जब वह जातीय सीमा से बाहर निकलने की क्षमता अर्जित कर लेता है।

महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिराव फुले का आंदोलन इसी दृष्टि और क्षमता के साथ आगे बढ़ा था। महात्मा

फुले के विचारों को कई बार अवैज्ञानिक कहा जाता है। महात्मा फुले के विचारों को अवैज्ञानिक कहने वाले आलोचकों से एक ही प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि वे महात्मा फुले के किस समकालीन विचारक को वैज्ञानिक मानते हैं? इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है, क्योंकि उस समय की वह युगीन सीमा थी। उन्नीसवीं सदी में महात्मा फुले द्वारा छेड़ा गया आंदोलन मूलतः वर्गीय बनना अटल था। महात्मा फुले के समय तक ज्ञान-विज्ञान जिस सीमा तक विकसित

हुआ था, उन्होंने अपने लेखन में मैकियाविली, सर विलियमस जॉस, टॉमस पेन, ग्रैंट डफ, होमर, शेक्सपियर जैसे पश्चिमी लेखकों और विभिन्न धर्म-ग्रंथों के उद्धरण पियरे हैं। उनके लेखन में कार्ल मार्क्स का नाम कहीं नहीं आता, क्योंकि भारत में तब तक मार्क्स का साहित्य उपलब्ध ही नहीं था।

कार्ल मार्क्स के लेखन में उसके समकालीन विचारक मिल का नाम आता है, परंतु मिल के लेखन में मार्क्स का नाम नहीं मिलता। किसी भी व्यक्ति का मूल्यांकन समय-सापेक्ष होना चाहिए अन्यथा उसके प्रति अन्याय होने की संभावना बनी रहती है। यह दुखद बात है कि महात्मा फुले और डॉ. अम्बेडकर भी इस प्रकार के अन्याय का शिकार हुए। महात्मा फुले का मूल्य-व्यवस्था-विरोध केवल सैद्धांतिक नहीं था, यह विरोध सोदेश्य निष्ठा पर आधारित था।

जब तक कोई विद्रोह ऊंची जाति-वर्ग के हितों को नुकसान नहीं पहुंचाता, तब तक वे उसकी सराहना करते हैं, कभी-कभी उसका गुणगान भी करते हैं, मगर जब यह विद्रोह व्यवस्था-परिवर्तन से संबद्ध होने लगता है, तब ऊंची जाति-वर्ग के हित खतरे में पड़ जाते हैं और वह वर्ग इसे कुचलने के लिए हरेक बुरा-भला रास्ता अपनाने लगता है।

समाज का प्रतिष्ठित वर्ग, सोदेश्य निष्ठाविहीन विरोध आसानी से पचा लेता है, ऐसा वह कई बार पचा भी चुका है। बाबासाहब अम्बेडकर ने महात्मा फुले को अपना गुरु मानकर उनके आंदोलन को आगे बढ़ाया, परंतु बाबासाहब के अनुयायियों में अगर आज सोदेश्य निष्ठा नहीं रह पाई, तो उनके आंदोलन को भी आसानी से पचा लिया जाएगा। **जब तक कोई विद्रोह ऊंची जाति-वर्ग के हितों को नुकसान नहीं पहुंचाता, तब तक वे उसकी सराहना करते हैं, कभी-कभी उसका गुणगान भी करते हैं, मगर जब यह विद्रोह व्यवस्था-परिवर्तन से संबद्ध होने लगता है, तब ऊंची जाति-वर्ग के हित खतरे में पड़ जाते हैं और वह वर्ग इसे कुचलने के लिए हरेक बुरा-भला रास्ता अपनाते लगता है।** महात्मा फुले का आंदोलन सेठों और पुरोहितों के विरोध में था, वह महाजनों द्वारा किए जा रहे आर्थिक शोषण और पुरोहितों द्वारा लादी जा रही धार्मिक दासता के विरोध में था। महात्मा फुले के योगदान को समझने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में स्त्रियों और शूद्रों का क्या स्थान था! महात्मा फुले ने स्त्रियों और शूद्रों के लिए विद्यालय खोले। इसके साथ-साथ शिक्षाविद् लॉर्ड मैकाले के विरुद्ध उन्होंने अपने विचारों को हंटर आयोग के सामने रखा। उनका लॉर्ड मैकाले से कोई व्यक्तिगत विरोध नहीं था, वे अनेक देशों द्वारा स्वीकृत उनके शिक्षा-सिद्धांतों का विरोध कर रहे थे। उन्होंने एक नया शिक्षा-सिद्धांत प्रस्तुत किया, जिसकी ओर हमारे देश के विद्वानों ने कभी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। सैद्धांतिक चर्चा में डूबे हुए लोग जमीनी परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया करते।

जिस समय महात्मा फुले ने अपना काम आरंभ किया, उस समय ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के खिलाफ विभिन्न अधिकारों की मांगों को ले कर अनेक आंदोलन चल रहे थे। आगे चल कर इन्हीं राजनीतिक मांगों का विकास राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलन में हुआ। हमारे

इतिहास में जान-बूझ कर राजनीतिक सुधारों और सामाजिक सुधारों में कभी संगति नहीं बैठाई गई। महात्मा फुले ने सामाजिक सुधारों के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था। उनके मन में ब्रिटिश कला के प्रति विशेष प्रकार की ममता थी। ब्रिटिश शासकों ने सुधारों के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार किया, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता।। उन्हें यह पता था कि ब्रिटिश-शासन लंबे समय तक नहीं टिक सकता।<sup>१७</sup> न्यायाधीश महादेव गोविंद रानडे ने ब्रिटिश-साम्राज्यवाद को ईश्वरीय वरदान की संज्ञा दी थी। प्रसिद्ध समाज सुधारक और विचारक गोपाल गणेश आगरकर का भी कमोबेश यही मत था। उन्होंने लिखा है- “परतंत्रता में सामाजिक-धार्मिक सुधारों को लागू करने की जितनी अनुकूल परिस्थितियां उपलब्ध हुईं, उतनी स्वतंत्रता प्राप्त होने पर नहीं मिली।<sup>१८</sup>” इस काल में ब्रिटिश-विरोधी और राष्ट्रवादी आंदोलनों के नेताओं के विचार और व्यवहार फुले-आगरकर के उपर्युक्त कथनों की पुष्टि करते हैं। रैंड साहेब की हत्या करने वाले प्रसिद्ध क्रांतिकारी देशभक्त चाफेकर द्वारा जेल में लिखी हुई आत्मकथा आज हमें उपलब्ध हैं।<sup>१९</sup> इस आत्मकथा से तत्कालीन क्रांतिकारियों की मनःस्थिति का पता चलता है। इन सभी क्रांतिकारियों की प्रबल निष्ठा, उनका अमूल्य त्याग और अद्भुत निडरता के प्रति आदर व्यक्त करते हुए भी यह कहना जरूरी है कि उनका जातीय अहंकार, सुधारों के प्रति हेय दृष्टि और सुधारकों के प्रति दुर्भावना का कतई समर्थन नहीं किया जाना चाहिए। इन क्रांतिकारियों के प्रतिगामी विचारों को देखते हुए ब्रिटिश-शासन के प्रति सुधारकों के नर्म रुख को गलत नहीं कहा जा सकता। चाफेकर की आत्मकथा में न्यायाधीश रानडे, लोकमान्य तिलक आदि के बारे में खेदजनक बातें लिखीं हुई हैं। इसमें तिलक के बारे में संभावना प्रकट की गई है कि उनमें बदलाव आ सकता है। इसमें चाफेकर ने अनेक घटनाओं

का जिक्र किया है- शाम को टहलने वाले सुधारकों पर गुलेल से निशाना साध कर कंकड़ मारने वाली एक विशेष संस्था थी। सुधारकों की लड़कियों की शादियों में आने वाली बारातों पर हमले किए जाते थे। सुधारकों को डरा-धमका कर आतंकित करने की दुर्दम्य इच्छा और असहिष्णुता का इसमें जिक्र किया गया है। ये सभी विचार और कर्म सुधार-विरोधी थे। चूंकि सुधारों से दलितों के जीवन-मृत्यु का प्रश्न जुड़ा हुआ था, अतः इस तरह की तथाकथित राष्ट्रवादी धारा से फुले-आगरकर और बाद में आंबेडकर भी दूर ही रहे। इसे उनकी गलती नहीं माना जा सकता।

सन् १८५८ के बाद भारतीय शासन-व्यवस्था में परिवर्तन होने लगे थे। सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात भारतीय जनता को संतुष्ट करने की दृष्टि से ब्रिटिश-साम्राज्यवाद द्वारा अनेक कदम उठाए जा रहे थे। महारानी के घोषण-पत्र में इसका स्पष्ट प्रतिबिंब दिखाई दे रहा था। उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभ में जनता को शासन में सहभागिता की उम्मीद बंधने लगी थी। महात्मा फुले का आंदोलन मानव-मुक्ति का आंदोलन था। इस आंदोलन में आगे चलकर भास्करराव जाधव, दिनकरराव जवलकर और केशवराव जेधे जैसे तेजस्वी नेताओं की शृंखला दिखाई देती है। राजर्षि शाहू के आगमन से इस आंदोलन को पुख्ता आधार मिला। इस नेतृत्व की कई सीमाएं भी थी, परंतु वे व्यक्ति की सीमाएं न होकर काल की सीमाएं थीं। महात्मा फुले का सत्यशोधक आंदोलन जब ब्राह्मणेतर आंदोलन में रूपांतरित हुआ और इसका नेतृत्व कोल्हापुर ने सम्हाला, वहीं से इसके स्वरूप में बदलाव आया। इस स्वरूप-परिवर्तन के कारणों का अन्वेषण किया जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में महात्मा फुले ने अपने लेखन और कर्म से जिस चेतना की ज्योत जलाई थी,

उस ज्योति के प्रकाश में अस्पृश्य जगत का अंधकार मिटने लगा था। जिस तरह महाराष्ट्र में इस जुझारू वर्ग की कोशिश से ब्रिटिश-शासन स्थापित हुआ, उसी तरह अन्य राज्यों में अनेक उच्चवर्णीय हिंदुओं ने ब्रिटिश-शासन ने महारों को उच्च-स्तरीय रहन-सहन से परिचित कराया, उन्हें सैन्य-अनुभव प्रदान किया, साथ ही अपनी क्षमता के प्रति जागरूक करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। **महाराष्ट्र का पहला दलित नेता ब्रिटिश आर्मी द्वारा प्रदान किया गया था।** भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के एक वर्ष बाद सन् १८८६ में गोपालबुवा वलंगकर सेना से सेवा-निवृत्त हुए और उन्होंने अपना शेष जीवन सामाजिक कार्य को समर्पित किया। **गोपालबुवा वलंगकर** महात्मा ज्योतिराव फुले के विचारों और कार्यों से अत्याधिक प्रभावित थे। गोपालबुवा ने सेना से सेवा-निवृत्त होते ही 'अनार्य दोष परिहार मंडल' नामक संस्था की स्थापना की। आज हमें दलित-आंदोलन का जो भव्य स्वरूप दिखाई देता है, उसकी नींव गोपालबुवा ने डाली थी। उन्होंने अपनी क्षमता और समझ के अनुरूप वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर संघर्ष की शुरुआत की। इस अस्पृश्यवर्गीय आंदोलन की जानकारी सबसे पहले 'इंद्रप्रकाश' नामक नियतकालिक में प्रकाशित हुई थी।<sup>३०</sup> उस समय समाचार-पत्र 'दीनबंधु' में उनके लेख प्रकाशित होते थे। सन् १८८८ में उन्होंने 'विटाल विध्वंसक' (छुआछूत विनाशक) नामक पुस्तिका लिखी थी। गोपालबुवा का प्रथम संघर्ष ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरोध में था। ब्रिटिश-साम्राज्यवाद ने जब अस्पृश्यों की भर्ती पर रोक लगा दी, उस समय उसके विरुद्ध पहली आवाज़ गोपालबुवा ने उठाई। वे इसके खिलाफ लगातार लड़ते रहे। इसके बाद दलित-आंदोलन में अनेक नेताओं की शृंखला तैयार होने लगी।



## सिद्धमातृका लिपि

-गुणाकर मुले

ब्राह्मी लिपि का विकास-क्रम नदी के प्रवाह जैसा है। लिपि की नई शैली एक निश्चित समय में या निश्चित लेख में एकाएक जन्म नहीं लेती। हमने देखा है कि उत्तर भारत के गुप्तकालीन ब्राह्मी लेख कई शैलियों के हैं। फिर छठी सदी से हम उत्तर भारत के लेखों के अक्षरों में अधिक कलात्मकता देखते हैं। अक्षरों की खड़ी रेखाएं नीचे की ओर बायीं तरफ मुड़ जाती है और स्वरो की मात्राएँ अधिक लम्बी, टेढ़ी-मेढ़ी और कलात्मक बनती हैं। छठी से नौवीं सदी तक इस प्रकार की लिपि में लिखे गये उत्तर भारत से अनेक लेख मिलते हैं।

पुनः नामकरण की समस्या पैदा होती है। चूँकि इस लिपि-शैली के अक्षरों की खड़ी रेखाओं के नीचे छोटे न्यूनकोण बनते हैं, इसलिए कुछ पुरालिपिविदों ने इसे 'न्यूनकोणीय लिपि' का नाम दिया है। कुछ अन्य पुरालिपिविदों ने इस शैली को 'कुटिल लिपि' या 'कुटिलाक्षर' नाम दिया है। 'कुटिलाक्षर' और 'विकटाक्षर' शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं, परन्तु इनका प्रयोग कालान्तर की शैली के लिए हुआ है। इसलिए प्रस्तुत शैली के लिए 'कुटिल लिपि' नाम भी उचित नहीं जँचता।

**अल्बेरुनी** (१०३० ई.) अपने ग्रंथ में जानकारी देते हैं कि, "कश्मीर, वाराणसी तथा मध्यदेश (कन्नौज के आसपास के प्रदेश) में **सिद्धमातृका लिपि** का व्यवहार होता है और मालवा में **नागर लिपि** का प्रचलन है।"

इस जानकारी से पता चलता है कि छठी से दसवीं सदी तक की उत्तर भारत की लिपि को 'सिद्धमातृका' कहते थे। इसे संभवतः 'सिद्धम् लिपि' भी कहते थे। यह नाम शायद इसलिए पड़ा है कि इस लिपि की वर्णमाला (बाराखड़ी) की शुरुआत 'ओं

नमः सिद्धम्' शब्दों से की जाती थी। जो भी हो, सुविधा के लिए हम 'सिद्धमातृका' नाम ही स्वीकार करते हैं।

इस लिपि के सिरों पर बहुधा ठोस त्रिकोणशीर्ष (तिकोन) दिखाई देते हैं। और कभी-कभी छोटी आड़ी लकीरें भी दिखाई देती हैं। कुषाण व गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि के अक्षरों से शनैः शनैः इस कलात्मक सिद्धम् लिपि के अक्षरों का विकास कैसे हुआ है, यह जानने के लिए देखिए नीचे का चित्र।

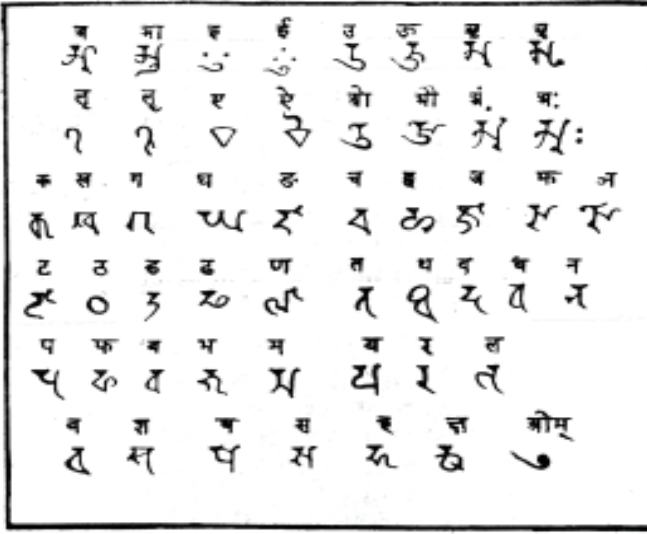
इ	ॐ → ॐ → ॐ
उ	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
ए	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑
ओ	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
क	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑
ख	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
घ	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑
ग	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
च	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑
छ	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
ज	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑
झ	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
ञ	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑
ट	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
ठ	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑
ड	॒ → ॒ → ॒ → ॒ → ॒
ण	॑ → ॑ → ॑ → ॑ → ॑

**ईसा की आरंभिक छह-सात सदियों में उत्तर भारत में प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का विकास-क्रम**

जापान में हीर्युजी विहार नामक एक प्राचीन बौद्ध मंदिर है। इस विहार का निर्माण ईसा की छठी सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। बाद में इस विहार की लकड़ी की

दीवार पर पलस्तर लगाकर चित्र भी अंकित किए गये थे, जो अजंठा के चित्रों से काफी साम्य रखते हैं।

इस होर्युजी विहार में ताड़पत्र पर लिखी हुई **उष्णीषविजयधारणी** नामक एक हस्तलिपि रखी हुई है। जानकारी मिलती है कि यह हस्तलिपि पहले भारत से चीन पहुँची थी। **महास्थविर बोधिधर्म** ५२० ई. में इसे भारत से चीन ले गये थे। फिर ६०९ ई. में यह हस्तलिपि जापान पहुँची।



**जापान के होर्युजी विहार में रखी हुई भारतीय पुस्तक 'उष्णीषविजय धारणी' की हस्तलिपि के अंत में दी गई पूर्ण वर्णमाला (लगभग ६०० ई.).**

इस हस्तलिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अंत में उस लिपि की पूरी वर्णमाला दी गयी है जिस लिपि में यह लिखी गयी है। हम नहीं जानते कि होर्युजी मंदिर में रखी हुई यह हस्तलिपि मूल है या पुनर्लिखित। पर इसमें जो वर्णमाला दी गयी है, वह ६०० ई. के आसपास की उत्तर भारत की लिपि की है। इसे हम **सिद्धमातृका लिपि की वर्णमाला** कह सकते हैं। इसमें 'ऋ' तथा 'लृ' की वृहस्व तथा दीर्घ दोनों ही ध्वनियों के लिए अक्षर हैं।

ईसा की पाँचवीं सदी के अंतिम चरण में भारत पर हूणों के हमले होते हैं। यह गुप्त शासकों की अवनति का काल था। उत्तर भारत के काफी भाग पर हूण **तोरमाण** और उसके पुत्र **मिहिरकुल** का शासन स्थापित हो जाता है। ये हूण शासक अपने को गुप्तों के उत्तराधिकारी समझने लग गये थे। इनके राज्यकाल के सिक्के तथा कुछ लेख भी मिलते हैं।

फिर छठी सदी के मध्यकाल तक उत्तर भारत से हन हूणों का राज्य उठ जाता है। किस शक्तिशाली नरेश ने इनका तख्ता उलट दिया? किसने इन्हें खदेड़ दिया? युवान्-च्वाङ् अपने यात्रा विवरण में जानकारी देते हैं कि मगध के 'बालादित्य' ने मिहिरकुल को हराया। लेकिन मगध के इस 'बालादित्य' के बारे में हमें कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती।

लेकिन **मन्दसौर** (प्राचीन दशपुर, मध्य प्रदेश) से प्राप्त दो लेख हमें जानकारी देते हैं कि औलिकर वंश के राजा **यशोधर्मन्** (विष्णुवर्धन्) ने मिहिरकुल को मालव प्रदेश से खदेड़ दिया था। मिहिरकुल ने यशोधर्मन् के चरण पूजे। (चूडापुष्पोपहारैम्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्)। यह भी जानकारी मिलती है कि लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) ने महेन्द्रगिरि (उड़ीसा) और हिमालय से पश्चिमी सागर तक के राजा यशोधर्मन् की अभ्यर्थना करते थे।

लेख के इस कथन में शायद कुछ अतिशयोक्ति हो, परन्तु इतना निश्चित है कि यशोधर्मन् ने हूणों को मालव प्रदेश से खदेड़ दिया था। यशोधर्मन् के बारे में अन्यत्र हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। मन्दसौर से प्राप्त सिर्फ दो लेखों में ही इस शक्तिशाली शासक के बारे में हमें जानकारी मिलती है। इनमें से एक लेख है मन्दसौर के एक कुएँ से प्राप्त प्रस्तर-लेख और दूसरा है मन्दसौर के समीप पड़े हुए एक स्तंभ पर उत्कीर्ण

लेख। इस दूसरे लेख की एक अन्य प्रति भी मिली है। पहला प्रस्तर-लेख ५३२ ई. का है। स्तंभलेख भी लगभग उसी समय का है, क्योंकि दोनों ही लेखों के अन्त में उत्कीर्ण करनेवाले का नाम **गोविन्द** बताया गया है (**उत्कीर्णा प्रशस्तिगोविन्द्रन**)। स्तंभलेख में प्रशस्ति के रचयिता कवि **वासुल** का नाम दिया गया है।

मन्दसौर से प्राप्त सिर्फ इन्हीं दो लेखों में हमें यशोधर्मन के बारे में जानकारी मिलती है, इसलिए भारतीय इतिहास में इन लेखों का महत्त्व स्पष्ट है। यशोधर्मन के वंशजों के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। यहाँ हम यशोधर्मन के **मन्दसौर स्तंभलेख** का एक नमूना दे रहे हैं। यह वह अंश है जिसमें उसके राज्य की सीमाएँ बतलायी गयी है। इसमें देखिए 'पश्चिमादापयोधे' शब्द के प्रथम 'प' अक्षर के ऊपर **उपध्मानीय** का चिह्न, क्योंकि इसके पहले के 'शिखरिणः' शब्द के अन्त में विसर्ग है। इस विसर्ग का लोप करके आगे के 'प' अक्षर पर उपध्मानीय का चिह्न चढ़ा दिया गया है। पाठक देखेंगे कि इस लेख के अक्षर स्पष्ट एवं सुन्दर हैं।

कन्नौज के मौखरी शासकों के लेख भी इसी लिपि में हैं। इसी सुन्दर लिपि में लिखा हुआ **बुद्धगया से महानाम** नामक एक व्यक्ति का लेख मिला है। ये थेर महानाम श्रीलंका के थे। श्रीलंका के धन से बुद्धगया में एक तीन मंजिले निवास का निर्माण हुआ था और एक बहुमूल्य बुद्ध-मूर्ति की स्थापना हुई थी। इसी की जानकारी लेख में दी गयी है। इस लेख के थेर महानाम और प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'महावंस' के लेखक महानाम संभवतः एक ही व्यक्ति थे। बुद्धगया के इस संस्कृत लेख में एक अज्ञात संवत् २६९ का उल्लेख है। यदि यह गुप्तसंवत् है, तो इस लेख का समय ५८८-८९ ई. निश्चित होता है।

थानेश्वर-कन्नौज के शासक **हर्षवर्धन** के नाम से सभी परिचित हैं। पिता प्रभाकरवर्धन की मृत्यु और

बड़े भाई राज्यवर्धन की हत्या के बाद ६०६ ई. में हर्ष थानेश्वर की गद्दी पर बैठा था। उसकी बहन राज्यश्री कन्नौज के मौखरी राजा को ब्याही थी। लेकिन जब अल्पायु में राज्यश्री विधवा हो गयी, तो हर्ष को कन्नौज का राज्य भी संभालना पड़ा।

माना जाता है कि हर्ष ने ६०६ ई. से एक नया संवत् **हहर्ष-संवत्** चलाया था। परन्तु ऐसा कोई लेख नहीं मिलता जिसमें संवत् के पहले हर्ष का नाम पाया जाता हो। स्वयं हर्ष के **बंसखेड़ा** और **मधुवन** से प्राप्त दानपत्रों में 'संवत्' शब्द के बाद उसके शासन-वर्षों का उल्लेख है।

हर्ष धार्मिक **दृष्टि** से सहिष्णु और विद्यानुरागी शासक था। उसे कुछ संस्कृत नाटकों का रचयिता माना जाता है। उसके दरबारी कवि **बाणभट्ट** ने अपने 'हर्षचरित' में उसके आरम्भिक जीवन के बारे में कुछ जानकारी दी है। हर्ष के समय में ही प्रख्यात चीनी यात्री **युवान्-च्वाइ** भारत पहुँचा था और हर्ष से उसकी भेंट हुई थी।

चालुक्य-नरेश **पुलकेशिन्** (द्वितीय) की **ऐहोले-प्रशस्ति** से हमें जानकारी मिलती है कि पुलकेशिन् ने हर्ष को हराया था। किन्तु हर्ष के किसी लेख में उसकी इस पराजय के बारे में जानकारी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि केवल एक ही शासक की प्रशस्तियों पर यकीन करके उसका इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

यहाँ हम **बंसखेड़ा** (शहाजहाँपुर जिला) से प्राप्त हर्ष के दानपत्र का अंश नमूने के रूप में दे रहे हैं। यह दानपत्र (हर्ष) संवत् २२, अर्थात् ६२८ ई. का है। दानपत्र के आरम्भिक अंश में हर्ष के पूर्वजों के नाम हैं यह दानपत्र वर्धमानकोटी के **जयस्कंधावार** (सैनिक कॅम्प) से दिया गया है और सम्राट द्वारा राज्य के अधिकारियों-सेवकों (कुमारामात्य-उपरिक-विषयपति-भट-चाट) को संबोधित करके लिखा गया है।

इस दानपत्र में भारद्वाज गोत्र के दो ब्राह्मणों को

**अहिच्छत्रामुक्ति** (बरेली जिला) के अंगदीय **विषय** के पश्चिमी **पथक** के मर्कटसागर गाँव का दान दिए जाने का उल्लेख है। अन्त में **दूतक** महारप्रमातार-महासामन्त स्कन्दगुप्त का उल्लेख है। यह 'दूतक' शब्द अनेक लेखों में देखने को मिलता है। **दूत** का **दूतक** राजाज्ञा को विज्ञापित करनेवाला राज्य का कोई बड़ा अधिकारी होता था। दानपत्र खोदनेवाले का नाम **ईश्वर** दिया गया है। यशोधर्मन् के लेखों को खोदनेवाले गोविन्द की तरह इस बंसखेडा ताम्रपत्र को खोदनेवाला ईश्वर भी सुलेखन का विशेषज्ञ सिद्ध होता है।

लेकिन लगता है कि स्वयं हर्ष उनसे भी बड़ा

सुलेखनाचार्य था। क्योंकि इस बंसखेडा ताम्रपत्र के अन्त में उसके सुन्दर हस्ताक्षर खोदे गए हैं- **स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य**। असंभव नहीं कि हर्ष अपनी सभी राजाज्ञाओं में इसी प्रकार के हस्ताक्षर करता हो। काँचीपुरम् के कैलाशनाथ मन्दिर में उत्कीर्ण कुछ विरुद भी ऐसी ही कलात्मक लिपि में हैं।

ईसा की दसवीं सदी से उत्तर भारत में नागरी लिपि के लेख मिलने लग जाते हैं। पर दक्षिण भारत से इस लिपि (नंदिनागरी) के लेख करीब दो सदी पहले मिलते हैं।

यह सोचना गलत होगा कि प्रत्येक वर्ण अपने आप में एक अविभाजित एवं सम्पूर्ण रूप से एकीकृत समुदाय था। उपलब्ध प्रमाण इस बात की ओर इंगित करते हैं कि प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत कुछ छोटे-छोटे एवं घनिष्ठ समुदायों की उत्पत्ति हो चुकी थी। ऐसे घनिष्ठ समुदायों के भी अलग-अलग प्रकार रहे होंगे। गोत्र और प्रवर के आधार पर अन्तःप्रजननीय अथवा विवाह सम्भव (Endogamus) और बाह्य प्रजननीय अथवा विवाह निषिद्ध (Exogamus) समुदायों की उत्पत्ति के प्रमाण स्पष्ट हैं।

## दासप्रथा

-देव राज चानना

बौद्धकालीन भारत की दासप्रथा की समस्या का विश्लेषण प्रारंभ करने से पहले उसके पूर्ववर्ती रूपों का विवेचन कर लेना, उसकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति का संक्षेप में प्रत्यास्मरण कर लेना और इसी संदर्भ में रखकर दासप्रथा का विवेचन करना निस्संदेह ही, अधिक उपयुक्त होगा। इससे हम बौद्ध युग को विरासत में मिली परिस्थितियों को अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से समझ पाएँगे, साथ ही कुछ अस्पष्ट बातों पर प्रकाश डालने की स्थिति में भी हो सकेंगे।

इस प्राचीन समाज से संबंधित तथ्य स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं। ये दोनों ही वर्ग अलग-अलग काल से संबंधित हैं। इनमें से जो सर्वाधिक प्राचीन हैं, उनका संबंध सिंधु सभ्यता से है और ये तथ्य पुरातात्विक ढंग के हैं। दूसरी ओर, ऋग्वेद एवं तत्संबंधी साहित्य में (जो संपूर्ण वाङ्मय वैदिक-साहित्य की संज्ञा से अभिहित होता है) उपलब्ध तथ्यों की चूँकि अभी तक पुरातत्त्व की खोजों से पुष्टि नहीं की जा सकी है, फलतः उसका ठीक-ठीक देश अथवा काल निर्धारण नहीं किया जा सकता। तथापि एक शताब्दी से भी अधिक समय से किए जा रहे अध्ययनों ने उत्तरी भारत के इतिहास के इस द्वितीय युग के अनेक पक्षों पर प्रकाश डाला है और वैदिक-समाज के तात्त्विक-आधार को समझना पहले की अपेक्षा अधिक सरल कर दिया है।

**१. मोहन-जो-दाड़ो :** पुरातत्त्वविदों के अनुसार सिंधु-सभ्यता का समय २५०० से १५०० ई.पू. के बीच है।<sup>१</sup> इसका प्रभाव-क्षेत्र पंजाब में रोपड़, क्वेटा के समीप दबारकोट, ओमान समुद्र के निकट सुत्कोगेन दौर और काठियावाड़ में लौथाल नामक स्थानों में फैले ध्वंसावशेषों के अस्तित्व से प्रकट होता है। अभी

तक छोटे-बड़े लगभग अस्सी ऐसे स्थल खोजे जा चुके हैं और निस्संदेह, अभी ऐसे बहुत से स्थल खोजने शेष हैं। जिन दो स्थलों पर सबसे अधिक विस्तृत, हालाँकि अपूर्ण खुदाई की गई है, वे हैं मोहन-जो-दाड़ो और हड़प्पा, जो एक दूसरे से ७०० कि.मी. की दूरी पर है। इन दोनों नगरों के ध्वंसावशेषों के चारों ओर अन्य स्थलों की खोज से विश्वास होता है कि ये दो नगर तत्कालीन समाज के केंद्र थे और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आसपास के गाँवों पर निर्भर थे।

इन खुदाइयों में लोहे की बनी कोई चीज नहीं मिली है। दूसरी ओर कांस्य, तांबा, चाँदी और सोने की बनी अनेक वस्तुएँ पर्याप्त संख्या में मिली हैं। यहाँ तक कि पत्थर के बने कुछ औजार भी मिले हैं, लेकिन पत्थर का अधिक प्रयोग उस समय तक प्रायः समाप्त हो चला था। इस सब के आधार पर कहा जा सकता है कि सिंधु-सभ्यता कांस्य काल की है। खाद्य की पूर्ति अनाज (गेहूँ, जौ) की खेती और पशुपालन पर निर्भर थी और मछली पकड़ना तृतीय स्रोत था। उपजाऊ और अत्यंत उर्वर कछारी भूमि होने के कारण खेती-सरल थी। यह भी विश्वास किया जाता है कि उस समय जलवायु की स्थिति भी इतनी प्रतिकूल नहीं थी, जितनी आज है। यहाँ विदेशी वस्तुएँ भी मिली हैं और साथ ही यहाँ की वस्तुएँ विदेशों में भी मिली हैं, जिससे उस समय व्यापार की अत्याधिक विकसित स्थिति की पुष्टि हो जाती है। मिट्टी की बनी बैलगाड़ी का एक मॉडल, और नाव का एक ढाँचा भी मिला है। इन दो बड़े नगरों की आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति तत्कालीन सुसंगठित व्यापार के अस्तित्व को लक्षित करती है।

यद्यपि इन दोनों नगरों का कई बार पुनर्निर्माण

हुआ, फिर भी २.५९ वर्ग किलो मीटर<sup>३</sup> में फैले इन नगरों की मूल योजना में सदियों तक कोई मामूली-सा परिवर्तन भी नहीं हुआ। हर बार नए सिरे से बनाते समय पूर्ववर्ती रूपरेखा की प्रमुख विशेषताओं का ही अनुसरण किया गया। इसलिए गलियों और कूचों के रूप अपरिवर्तित बने रहे। इस सब से यह पता चलता है कि योजना के विस्तृत कार्यान्वयन का निरीक्षण करने के लिए वहाँ उस समय कोई शासकीय सत्ता मौजूद थी। मोटी ईंटों की दीवार से घिरा और नगर के ऊपर अधिष्ठित दुर्ग 'राज्यपाल' के अस्तित्व का संकेत करता है। इसके अतिरिक्त उन अन्न-भंडारों से, जहाँ नगर पर आश्रित क्षेत्रों द्वारा उत्पादित अन्न एकत्र किया जाता था, राज्यपाल की आर्थिक शक्तियों का पता चलता है।<sup>३</sup>

इस सभ्यता के भौतिक अवशेषों और मैसोपोटामिया के अवशेषों में पाई गई समानता से प्रतीत होता है कि दोनों के सामाजिक संगठन समान रहे होंगे।

#### व्हीलर के अनुसार :

बड़ी नदियों के मैदानों में उत्पादित वस्तुओं के व्यापार को अपनी अर्थव्यवस्था का आधार बनाने वाले इन क्षेत्रों (मिस्र तथा मध्यपूर्व -Middle East) के राज्य या नगर-राज्य तत्कालीन सिंधु सभ्यता के नगरों से मूलभूत समानता रखते थे। यह समानता संभरण और उसके अवसरों के क्षेत्र में तो थी ही, उत्पादित सामग्री के क्षेत्र में भी थी। इस आधार पर यह मानना स्वाभाविक है कि भारतीय समाज की बनावट तद्युगीन पश्चिमी समाज की बनावट से पूर्णतया भिन्न न थी।<sup>४</sup>

इस अवस्था में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रामीण समाज में दासों का अस्तित्व था। नगरों में तो उनकी उपस्थिति और भी निश्चित है। नगरों में कम-से-कम तीन सामाजिक-वर्गों-शासक (यह ज्ञात नहीं कि क्या पुरोहित और नागरिक अधिकारी दो

भिन्न वर्ग थे), व्यापारी<sup>५</sup> और कारीगर<sup>६</sup> का अस्तित्व स्वीकृत है। इन वर्गों की मौजूदगी इस बात का संकेत करती है कि एक चौथा वर्ग भी था जो सेवक वर्ग हो सकता है। ये सेवक वेतनभोगी श्रमिक अथवा दास (युद्ध-बंदी, ऋण-दास आदि) रहे होंगे। मार्शल यह कह कर उनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं कि मोहन-जो-दड़ो के बड़े भवनों के छोटे कमरे दासों अथवा पराश्रित लोगों<sup>७</sup> के लिए हुआ करते थे। हमारा विश्वास है कि इन घरेलू-दासों और सेवकों के अतिरिक्त कुछ दास वैतनिक श्रमिक भी थे, जिन्हें केंद्रीय प्राधिकारी नियुक्त करता था। यह इस तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि मोहन-जो-दाड़ो में रहने के कमरों की दो पंक्तियाँ मिली हैं, जो बैरकों से मिलती-जुलती हैं। ये उन गोल ऊँची बंदिकाओं की पाँच पंक्तियों के अवशेषों से बहुत दूर नहीं मिले हैं जहाँ ओखली-मूसल से घान फटका जाता था। उनके पास ही अन्न भंडार मिले हैं। ये रहने के कमरे एक दीवार से घिरे हैं और अलग-अलग भागों में बँटे हैं, जिनमें से प्रत्येक में दो कमरों (या एक कमरा और आँगन) हैं। इनमें कुछ का फर्श आंशिक रूप से ईंटों का बना हुआ है। तेल-अल-अमरना (Tel-el-Amarana) की बैरकों के साथ मिलते-जुलते होने से व्हीलर (Wheeler) मानते हैं कि इनमें रहने वाले लोग दास या दास समस्तर के थे।<sup>६</sup>

सारांश यह है कि दास-श्रम का अस्तित्व सिंधु सभ्यता के नगरों और गाँवों में रहा होगा। यह धारणा इस सभ्यता (और अधिक यथातथ्यपूर्वक कहें तो दो नगरों की सभ्यता) की उस युग की अन्य नदी-घाटी सभ्यताओं के साथ समता पर आधारित है। किंतु इतना होने पर भी वस्तुस्थिति यह है कि सिंधु सभ्यता के कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। परिणामस्वरूप, दासप्रथा के अस्तित्व के विषय में अंतिम रूप से कोई तर्क नहीं दिया जा सकता।

सिंधु सभ्यता का विनाश कैसे हुआ इस संबंध में

कुछ भी निश्चित रूप में ज्ञात नहीं है। इसका कारण क्या था—युद्ध, प्रबल शत्रु का आक्रमण या फिर केवल बाढ़ या संक्रामक रोग, जैसे प्राकृतिक प्रकोप? कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि गलियों में बिखरी अस्थियाँ (अस्थिपिंजर) मिलने से (एक अस्थिपिंजर से प्रबल आघातवश मृत्यु की पुष्टि होती है) शत्रु के आक्रमण की परिकल्पना पर विश्वास होने लगता है एक बार यह परिकल्पना स्वीकार कर लेने पर इस सर्वनाश के अपराधी शत्रु की खोज करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। १५०० ई.पू. के आसपास भारत में आने वाले आर्यों को इसके लिए उत्तरदायी ठहराने का लोभ-संवरण कर पाना कठिन रहा है।<sup>१</sup> यहाँ आने पर बसने के लिए आर्य अवश्य ही उस समय के निवासियों के विरुद्ध लड़ाई करने पर विवश हुए होंगे।<sup>२</sup> यहाँ स्मरणीय है कि आर्यों का नेता परवर्ती काल में देवता रूप इंद्र को **पुरम्-दर (पुरंदर)** यानी नगरों को विध्वंस करने वाला विशेषण से अभिहित किया जाता है। अपनी आरे से हम इतना कह दें कि यदि ऋग्वेद में इंद्र को नगरों का विश्वंसक **पुरंदर** कहा गया है, तो उसके शत्रुओं को 'अनास...' नासिकाहीन बताया गया है। लेकिन मोहन-जो-दाड़ो में मिली अस्थियों और अस्थिपिंजरों से किसी एक जाति-वर्ग की प्रधानता नहीं दिखाई देती। दूसरी ओर उनसे जाति-मिश्रण प्रकट होता है। समाज में निश्चित रूप से कई जातियों के लोग थे। अस्थिपिंजरों के अवशेष और मूर्तियाँ निस्संदेह शारीरिक दृष्टि से भिन्न वर्गों की हैं।<sup>३</sup> फिर भी जब तक कोई अन्य ऐसा सिद्धांत न हो जो समान रूप से सही लगे, इस अंतिम सिद्धांत को कामचलाऊ अनुमान के रूप में स्वीकृत कर लेना चाहिए।<sup>४</sup>

इस सभ्यता के विनाश के परिणामस्वरूप नगर और गाँव के संबंधों में, और साथ ही ग्रामीण और नागरिक जनता के सामाजिक संगठन में भी अवश्यमेव परिवर्तन हुआ होगा। अब ग्राम-प्रदेश नगरों की

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विवश नहीं था और दासों ने, यदि उनका अस्तित्व रह सका होगा तो, अपने को स्वाधीन पाया। नगरों के विनाश ने अपने साथ 'बुर्जुआ' के विनाश ने अपने साथ 'बुर्जुआ' धनी को समाप्त कर दिया, ? जिससे घरेलू दासों को मुक्ति मिल गई। शासक अपने दुर्गों के साथ लुप्त हो गए और पीछे अपने 'दासों' को मुक्त छोड़ गए। यह असंभव बात है कि नगरों के विनाश के साथ-साथ सारी जनसंख्या अवश्य ही नष्ट हो गई हो। यह संभव है कि दास लोग समाज के अन्य वर्गों के साथ बचकर भाग निकले होंगे और अन्यत्र कहीं किसानों, कारीगरों अथवा सवैतनिक श्रमिकों के रूप में बस गए होंगे। चाहे कुछ भी हो यदि उस समय दासप्रथा मौजूद रही होगी तो इस विनाश से उसे गंभीर आघात पहुँचा होगा। फिर भी आवश्यक नहीं कि कृषि के आधिक्य की संभावना लुप्त हो गई हो। न ही ऋण-दासता, युद्ध-बंदी दासता आदि की धारणा समाप्त की गई। परिणामस्वरूप, हम मान सकते हैं कि दासप्रथा, विचारधारा में बिना किसी परिवर्तन के चलती रही यद्यपि यह प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम हो गई।<sup>५</sup>

#### संदर्भ :

१. व्हीलर, (Wheeler) सिंधु सभ्यता, (Indus Civilization) पृ.९३
२. एस.पिगट, प्रागैतिहासिक भारत, पृ.१३३
३. V.G.Childe, New Light on Most-Ancient East, p.174
४. व्हीलर, Ancient India ३, पृ.७४; साथ ही देखें चाइल्ड, उपर्युक्त पृ.१७३-४, सूदूरपूर्व सभ्यता के अधिक विवरणों के लिए देखें एच. फ्रैंकफर्ट (H. Frankfort) की पुस्तक The Birth of the Civilization in the Far East. इस क्षेत्र की दास प्रथा के अध्ययन के लिए देखें आई.मैडलसॉन (I. Mendelsohn) की पुस्तक Slavery in the Ancient Near East.
५. चाइल्ड 'हड़प्पा के बुर्जुआ' की चर्चा करते हैं,

- उपर्युक्त पृ. १७५.
६. वही पृ. १७७.
७. Mohen-jodaro, vol.I, p.92; मैके (Mackay) की Early Indian Civilization, पृ. ३९ भी देखें। लेख को मोहन-जो-दड़ो में 'एक समृद्ध, प्रशासी और व्यापारी वर्ग, कारीगरों का विशाल वर्ग और बहुत से दास दृष्टिगोचर होते हैं।'
८. पूर्वोद्धृत, पृ. २३ तथा यही उद्धृत, पृ. ७६; पिग्गट, पूर्वोद्धृत, पृ. १३८ पर इन्हें भारवाही श्रमिक कहते हैं।
९. ध्यान देने योग्य बात है कि हाईने गेल्डर्न (Heine Geldern) का विचार है कि आर्य १२०० और १००० ई.पू. के आस-पास भारत आए (Man अक्टूबर १९५६, पृ. १३९).
१०. फिर भी १५०० ई.पू. के आस-पास आर्यों का भारत प्रवेश सिद्धांत स्वीकार करने वाले फूशे (Foucher) का विचार है कि सिन्धु सभ्यता का ध्वंस, जैसा इन दो महानगरों से प्रतीत होता है, कुछ समय पहले कोई २०० ई.पू. के आस-पास हुआ और यह काम असीरिया के लोगों का था (La Vieille route del, Inde, Vol. II p.181)।
११. चाइल्ड (Childe), पूर्वोद्धृत, पृ. १७५; मार्शल (Marshall) पूर्वोद्धृत, पृ. ३३, को वहाँ कम-से-कम चार भिन्न समूह दिखाई देते हैं। डी.एन.मजुमदार (D.N.Majumdar) का कथन है कि प्राचीन मानवीय अवशेषों के जातिगत स्तर को सुलझा पाना सहज नहीं, परंतु इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं कि मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में और उनके आस-पास बताए गए अवशेष कई प्रकार की जातियों को सूचित करते हैं। (भारतीय जातियाँ और सभ्यताएँ। (Races and Cultures of India) पृ. २५-२६, अतः हमें नहीं मालूम कि पिग्गट (Piggot, पूर्वोद्धृत पृ. २६१ किस प्रकार इस खोज तक पहुँचे हैं कि इस जान-समूह में प्रोटो-ऑस्ट्रालॉइड (Proto-australoid) वर्ग का एक बहुत बड़े अनुपात में अस्तित्व है।
१२. जहाँ तक हमारा प्रश्न है, हमारा विश्वास है कि आर्य लोग कांस्यकाल में ही भारत में आ चुके थे और संभवतः वे यहाँ पहले विशिष्ट व्यापारियों के रूप में आए होंगे। वे सिंधु घाटी-समाज में स्थान पा सके होंगे। हाँ निश्चय ही यह बात उन्हें आक्रांताओं में मिलने से नहीं रोकती और न ही उन आक्रांताओं से लड़ने में कोई बाधा आई होगी, यद्यपि दोनों एक भाषा-समूह से संबंधित थे। ऐसी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता जैसा कि यूनान में एक के पीछे एक बसने वाली यूनानी जातियों के इतिहास से प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का साक्ष्य भी स्वयं आर्यों में वैर के अस्तित्व को सूचित करता है।
१३. हमारी यह धारणा है कि सांस्कृतिक और भौतिक दोनों प्रकार की सिंधु घाटी की परंपराओं का जो सतत-प्रवाह १५०० ई.पू. के आस-पास हुआ इस विनाश के बावजूद विद्यमान रहा। उसमें दासप्रथा निरंतर चलती रही। चाइल्ड (Childe) का कथन है, "सिंधु घाटी सभ्यता आधुनिक भारतीय संस्कृति का मूल है। वास्तु-कला और उद्योग, इससे भी अधिक वेशभूषा और धर्म के क्षेत्र में मोहन-जो-दड़ो ने जिन विशिष्ट लक्षणों को प्रकट किया है वे सदा से ही ऐतिहासिक भारत की विशेषता रही है।" (पूर्वोद्धृत, १८४)



## मूल अस्मिता की तलाश : अतीत के झरोके से

—ईश कुमार गंगानिया

भारत विभिन्नताओं का देश है। इन विभिन्नताओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार की विभिन्नता भौगोलिक व प्राकृतिक होती है। भौगोलिक विभिन्नता के चलते भरत में, खेत-खलिहान, पहाड़-पठार, नदी-नाले, समुद्र, वन-उपवन, खनिज संपदा आदि हैं। प्रकृति ने विभिन्न प्रकार के मौसम, जलवायु, खान-पान, वेशभूषा, रंग-रूप, शक्ल-सूरत व विभिन्न प्रकार की भाषाएं दी हैं। इन प्राकृतिक विभिन्नताओं में एकता, खूबसूरती व आकर्षण है। इन सबके चलते किसी को भी भारतीय होने पर गर्व हो सकता है और होना भी चाहिए। लेकिन दूसरे प्रकार की विभिन्नताएं मानवकृत हैं। इन विभिन्नताओं को धर्मांधता, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, नस्लवाद, व ऊंच-नीच, छोटे-बड़े जैसे विभिन्न प्रकार के स्तरीकरण के रूप में देखा जा सकता है। इन विभिन्नताओं के चलते भारतीय समाज में एकता, समानता, स्वतंत्रता, बंधुता, भाईचारा व अंतरंगता जैसे मूल्यों का बेहद अभाव है।

यहां जीवन के हर क्षेत्र में जातिगत, धर्मगत, क्षेत्रगत व सम्प्रदायगत लामबंदी नजर आती है। कहने की जरूरत नहीं कि आज हिन्दूवादी समाज की वर्णगत व जातिगत लामबंदी सबसे अधिक घृणित व शोषणकारी है। इस लामबंदी के चलते इस देश के मूलनिवासियों के लिए असुर, चांडाल, अंत्यज, दैत्य, अस्पृश्य और न जाने कितने प्रकार के जातिसूचक संबोधनों का प्रयोग किया जाता है। डा. अम्बडकर इस जातीय लामबंदी पर इस प्रकार टिप्पणी करते हैं— हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका दायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक सीमित है। गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है।

सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है) उनकी सहानुभूति नहीं होती। गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरूरतमंद के लिए सहायता नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं है। अगर सहायता दें तो वह केवल जाति मात्र तक सीमित है। सहानुभूति है, लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए नहीं।... हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य किसी जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सके। गुणों की सराहना तब होती है जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उसकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से। उनके लिए मुद्दा सिर्फ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष लें या नहीं। क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों-स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है?

इन शोषणकारी जातीय व धार्मिक परंपराओं के संबंध में नेहरू जैसा पश्चिमी सभ्यता में पला बढा व्यक्ति यह तो स्वीकार करता है कि ये व्यक्ति के विकास में बाधक हैं और एक विशाल समूह का दलन करती हैं, लेकिन इन्हें तोड़ने का साहस नहीं जुटा पाता। इसके विपरीत वह इन्हें ढोने में ही अपनी भलाई समझते हैं। प्रस्तुत है उनकी आत्मकथा का अंश— यद्यपि मैंने अतीत की परंपराओं और रीति-रिवाजों की उपेक्षा की है, और मैं चिन्तित हूं कि भारत को स्वयं इन बेड़ियों को तोड़ देना चाहिए, जो उसे बांधती हैं, बंदी बनाती हैं और देश को विभाजित करती हैं, और देश के विशाल समूह का दलन करती हैं और उनके शरीर और आत्मा के स्वतंत्र विकास को रोकती

हैं। यद्यपि मैं यह सब जानता हूँ, फिर भी मेरी इच्छा नहीं है कि मैं स्वयं को अतीत से पूर्ण रूप से अलग कर लूँ। मुझे गर्व है उस विरासत पर, जो सदा से रही है और आज भी हमारी है, और मैं उत्सुक हूँ कि मैं भी दूसरों की तरह एक कड़ी हूँ, मैं उस शृंखला (जंजीर) को, जो पीछे इतिहास के उदय से दूर अतीत तक जाती है। यह जंजीर मैं नहीं तोड़ूंगा, मैं इसे सुरक्षित रखूंगा और प्रेरणा प्राप्त करूंगा।<sup>3</sup>

यही नहीं भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का ही उदाहरण ले लीजिए, वे भी वर्ण व जाति व्यवस्था का समर्थन करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। प्रस्तुत है गांधी जी के १९२१-१९२२ में गुजराती के 'नवजीवन' अखबार में जाति की वकालत में प्रस्तुत तर्क - "मेरे विचार से अब तक हिन्दू समाज अपनी जाति प्रथा के कारण जीवित है। जाति प्रथा में स्वराज के बीज मौजूद हैं। जाति प्रणाली विकसित करने वाले समाज में आश्चर्यजनक संगठन क्षमता होती है। जातियों के माध्यम से ही प्राथमिक शिक्षा का प्रसार होता है एकता के लिए अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति न देने से ही इसे बुरा नहीं माना जा सकता नियंत्रित व मर्यादित जीवन का दूसरा नाम जाति प्रथा है। जाति को नष्ट करने का अर्थ पैतृक पेशों को नष्ट करना होगा। अपने पैतृक पेशे छोड़कर यदि ब्राह्मण शूद्र ब्राह्मण बनने लगेंगे तो समाज का काम ही ठप्प हो जाएगा। जाति प्रथा एक प्राकृतिक विधान है।"<sup>4</sup>

ऐसा नहीं है कि जाति के संबंध में इस देश के मूलनिवासियों अर्थात् आजीवकों ने कोई विरोध नहीं किया, यह बराबर किया है। इतिहास के साथ-साथ पूरी संत परंपरा सामाजिक असमानता व वर्चस्ववाद के विरुद्ध एक सशक्त आन्दोलन के रूप में मौजूद है। इस पाठ्यक्रम में पढ़ाया भी जा रहा है लेकिन फिर भी परिणाम वही ढाक के तीन पात। ऐसा लगता है वर्णवादी भारतीय समाज वर्चस्ववाद का ऐडिक्ट-सा हो गया

है। इसलिए इनके वर्चस्ववाद से उपजे दूसरों के दुख-दर्द व अपमान इन्हें दिखाई ही नहीं देते। इस वर्चस्ववाद को उपनामों व उपाधियों तक विस्तार देते हुए खुशवंत सिंह टिप्पणी करते हैं- यह अपने नाम के साथ अपनी डिग्रियां जैसे एम.ए., डी.लिट्, लंबरदार या पूर्व सांसद, राज्यपाल, आई.ए.एस. आदि का प्रयोग, यानी हैसियत का दिखावा सिर्फ हिन्दुस्तान, पाकिस्तान व बंगलादेश में ही मिलता है। यह हाल आपको यूरोप या अमेरिका में देखने को नहीं मिलता। जापान तक में ऐसा नहीं है।... 'हमारे मन में गहरे तक धंसी है जाति। कुछ अलग किस्म के लोगों के लिए जिन्होंने जाति व्यवस्था को बुराई मान कर ठुकरा दिया। उनके लिए भी वह सामाजिक हैसियत बन गई है। लुई ड्यूमॉन ने भी कभी 'होमो हाइआर्कस' की बात की थी। यानी आदमी में ऊँच-नीच की भावना या चेतना। हम भारतीय उसकी बेहतरीन मिसाल हैं। पुरानी हिन्दू व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। सिखों ने अपना अलग जाति का मामला चला दिया है। वे जाट हो गए हैं। लाहौर हाईकोर्ट के फैसले के मुताबिक तो वे शूद्र थे। लेकिन अब वही सबसे ऊँची सिख जाति हैं। दूसरे पर 'मापा' हैं, उनमें ब्राह्मण, खत्री यानी क्षत्रिय, अरोड़ा यानी वैश्य वगैरह आते हैं। मज़हबी यानी दलित सिख अलग हैं। अब सिख अपने धर्मग्रंथों से हवाला देते हैं कि वहां कोई जाति की गैरबराबरी नहीं है। गुरु गोविंद सिंह ने कहा था- 'मानस की जात सब एक ही पहचानो। यह अलग बात है कि सभी सिख गुरुओं ने खत्रियों में ही शादी की।'<sup>5</sup>

सिखिज्म की बात निकली है तो यह जानना भी जरूरी हो गया है कि सामाजिक समानता, स्वतंत्रता, बंधुता व नई अस्मिता की तलाश में दलित समाज के लोग सिखिज्म में भी धर्मांतरित हुए। बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि सिखिज्म भी जातिवाद व ऊँच-नीच का कम शिकार नहीं है। ये धर्मांतरित दलितों को कहते हैं कि अधिक से अधिक लोगों को सिखिज्म में

धर्मातरित करो और आपस में ही शादियां करो। यही छूतछात की बीमारी है, जिस ओर खुशवंत सिंह इशारा कर रहे हैं। इसको और अधिक समझने के लिए पंजाब के तिलहन कांड का विश्लेषण किया जा सकता है।

मुसलमानों की बात करें तो वे भी कम साम्प्रदायिक नहीं रहे हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों में साम्प्रदायिक कट्टरता की भावना सदा से ही रही है। इसी कारण भारत का विभाजन पाकिस्तान के रूप में हुआ। पाकिस्तान के पुनः बंगला देश में विभाजन को राजनीतिक कारणों के साथ-साथ साम्प्रदायिक कारणों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। गौरतलब है कि मुसलमानों में जातिवाद की भावना भी हिन्दूवाद के कारण है। इस जातिवाद व साम्प्रदायिकता के चलते भारत व पाकिस्तान के विभाजन के दौरान भी दलितों को एक समस्या के रूप में देखा गया। इस समस्या के समाधान के लिए कांग्रेसी नेता मो.अली के दलितों के विषय में दिए गए सुझाव पर गौर किया जा सकता है। उनके अनुसार- ‘अछूतों की समस्या का सबसे आसान हल यह है कि उन्हें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बराबर-बराबर बांट दिया जाए।’ मजे की बात यह है कि यहां भी हिन्दुओं और मुसलमानों की चिंता दलितों की जातीय समस्या यानी शोषण-उत्पीड़न का समाधान नहीं, बल्कि अपनी समस्याओं का समाधान करना था। साफ है कि जातीय श्रेष्ठता के चलते वे कोई भी ऐसे काम नहीं कर सकते थे, जो इन दलितों के मत्थे आज भी मढ़े हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें बंधुवा मजदूर चाहिए थे। इसलिए यह बंटवारे का विचार मौ. अली के दिमाग में आया। वैसे भी जनसंख्या बल के लिए दलितों को अपने पाले में रखने के लिए संघर्ष हर धर्म में आज भी निरंतर जारी है। अगर दलित किसी भी धर्म में जाते हैं तो हिन्दुओं का जनसंख्या का आंकड़ा डगमगाता है। बस, इसी स्वार्थ के लिए आज दलितों और ईसाईयों के बीच जंग निरंतर देखने को मिलती है।

वर्तमान दलित यह सब जानता है। इसलिए वह बार-बार अपनी मूल अस्मिता की तलाश में भटकता है। इस कार्य में उसकी ऊर्जा का बड़ा भाग खर्च हो रहा है। हम यह भी जानते हैं कि हमारी अस्मिता की तलाश को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता। यही नहीं भूमंडलीकरण की भयंकर आर्थिक चुनौतियों के बावजूद हमारी मजबूरी इतनी प्रबल है कि इसके लिए समय व ऊर्जा दोनों की बरबादी को सहन करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा नहीं है। नई अस्मिताओं की तलाश और इसको देखने के नजरिए को अभय दूबे के शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है- ‘कभी तो दलित समुदाय खुद को आदि द्रविड़ के रूप में, कभी पतित हो चुके क्षत्रियों के रूप में और कभी नागरिक समाज के दलित सदस्य के रूप में देखते हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्य अस्मिताओं की तरह उनकी आधुनिक अस्मिता का कोई स्वायत्त, नैसर्गिक और स्थाई रूप नहीं है। इसी तरह राष्ट्रवादी अस्मिता भी किस्म-किस्म की होती है। बीसवीं सदी ने अस्मिता के इस विचार पर कई गंभीर प्रश्नचिन्ह लगाए। चिंतकों ने पाया कि अस्मिताएं सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के मुताबिक बनती-बिगड़ती रहती हैं। उन्होंने देखा कि एक समय में अस्मिता का कोई एक पहलू अधिक प्रमुखता प्राप्त करके उसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति बन जाता है।’<sup>6</sup>

ऐसा नहीं है कि दलित समाज ही अपनी अस्मिता की तलाश में भटकता रहा है। भारतीय वर्चस्ववादी समाज भी इससे अछूता नहीं है। लेकिन लांछन के लिए सिर्फ दलित ही बचे हैं। यह स्थिति वर्णवादी समाज की भ्रामक प्रवृत्ति ‘कमजोर की जोरु सबकी भाभी’ की कहावत को चरितार्थ करती है। लेकिन गौरतलब यह भी है कि कमजोरी का एहसास सभी को रहा है। मौजूदा तथाकथित गरिमामय अस्मिताओं के ऐतिहासिक विकास को समझने के लिए इतिहास में झांकना पड़ेगा, जो युद्धों से अटा पड़ा है। इसके

अनुसार-‘वेन, पुरुरवा, नहुष, सुदास, सुमुख, और निमि ऐसे क्षत्रिय राजा थे, जिनका ब्राह्मणों से संघर्ष हुआ था। इन संघर्षों के मुद्दे अलग थे। -वेन और ब्राह्मणों के बीच मुद्दा यह था कि का राजा का प्रभुत्व रहेगा और ब्राह्मण उसकी पूजा करेगा और भगवान को बलि चढ़ाने की बजाय वह राजा को बलि चढ़ाएगा। पुरुरवा और ब्राह्मणों के बीच मुद्दा यह था कि क्या राजा ब्राह्मणों की सम्पत्ति जब्त कर सकता है या नहीं। नहुष और ब्राह्मणों के बीच मुद्दा यह था कि क्या क्षत्रिय राजा ब्राह्मण से गुलामों जैसा कार्य करवा सकता है। निमि और ब्राह्मणों के बीच मुद्दा यह था कि क्या बलि समारोह के लिए वह परिवार के पुरोहित की सेवाएं लेने को बाध्य था। सुदास और ब्राह्मणों के बीच मुद्दा यह था कि क्या पुरोहित के पद के लिए केवल ब्राह्मण की सेवाएं लेने को बाध्य था।’<sup>9</sup>

आज हिन्दू समाज का अपने आपको हिन्दुत्व से संबोधित करना और इसे एक जीवनशैली की संज्ञा देना भी इसी कड़ी में आता है। इसका पुनः हिन्दुत्व से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ओर लौटना भी इसी श्रेणी में आता है। गौरतलब है कि **अपने आपको भारतीय कहलाने की अपेक्षा ‘हिन्दू’ कहलाने के लिए अधिक संघर्षरत रहते हैं। यदि यह कहा जाए कि इनमें भारतीय कहलाने के प्रति कोई रुचि ही नहीं है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।** वास्तव में इन्हें भारत से ज्यादा दिलचस्पी हिन्दुस्तान में है। इन्होंने इसे धार्मिकता के खान्चे में फिट करने की कसम जैसी खाई जगती है। इसके विपरीत इस देश के मूलनिवासी यानी आजीवकों को भारत में दिलचस्पी है, हिन्दुस्तान में नहीं। डा. अम्बेडकर भी भारतीयता के पोषक थे, न कि जातिवाद, हिन्दुवाद व हिन्दुस्तान या पाकिस्तान के। वे हिन्दुओं और मुसलमानों को आगाह करते हुए कहते हैं- **‘मुझे अच्छा नहीं लगता जब कुछ लोग कहते हैं कि हम पहले भारतीय हैं और बाद में हिन्दू या मुसलमान। मुझे यह स्वीकार नहीं है। धर्म, संस्कृति, भाषा आदि**

**की प्रतिस्पर्धी निष्ठा के रहते हुए भारतीयता के प्रति निष्ठा नहीं पनप सकती। मैं चाहता हूँ कि लोग पहले भी भारतीय रहें और अंत में भी भारतीय रहें और भारतीय के अलावा कुछ न रहें।’**

भारतीयता को अमली जामा पहनाने व हिन्दूवादी समाज के वैमनस्यपूर्ण व्यवहार व शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति के लिए वर्तमान दलित अर्थात् आजीवक निरंतर अपनी अस्मिताएं बदलते रहे हैं। इसे नकारात्मकताओं से लादने की अपेक्षा प्रगतिशीलता के चश्में से देखा जाना चाहिए। मौजूदा दलितों की निरंतर परिवर्तनशीलता पर संक्षिप्त चर्चा करना यहां अनिवार्य हो गया है।

इस कड़ी में पहले ‘हरिजन’ शब्द को लेते हैं। सभी जानते हैं कि इसके जनक नरसी मेहता रहे हैं, लेकिन इसे गांधी जी ने दलितों के साथ चस्पा कर दिया। सवर्ण समाज की दासी प्रथा व हरिजन शब्द से जुड़ी छूत वर्तमान दलित समाज तक कैसे पहुंची, यह भी यहां जाना जाना चाहिए। यह कुछ इस प्रकार है- ‘लम्बे समय के बाद जब मुसलमान काल आया तो लड़के और लड़कियों का व्यापार मध्य एशिया अर्थात् अरब देशों के लिए होने लगा। जब मन्दिरों की ये देवदासियां बिकने लगीं और इनकी लम्बी रकमें इन पंडों को मिलने लगी तो उन भक्तों के लिए पंडों ने नया नियम बनाया, जिसके तहत लोग अपनी पहली कन्या को देवताओं के हवाले करने का संकल्प लेते थे। पंडों ने यह संशोधन कर दिया कि कोई भक्त अपनी पहली संतान देवता को अर्पण करना चाहेगा तो उसे पहली संतान अवश्य अर्पण करनी होगी, चाहे वह लड़का हो या लड़की। फिर क्या था सवर्ण हिन्दू मनौती मांगते समय किए गए वचन के अनुसार लड़की पैदा होने पर उसे तुरंत देवता के हवाले कर आते थे, हिन्दु लड़का पैदा होने पर वह देवता के हवाले नहीं कर सकते थे। लड़के के विषय में यह एक कठिन समस्या थी कि उसे पंडे की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। ऐसी दशा में हिन्दुओं ने एक युक्ति निकाली

कि यदि किसी हिन्दू दम्पति की पहली संतान लड़का हो और उसे वह देवता को अर्पण नहीं करना चाहता है, तो ऐसी दशा में वह किसी लड़के अथवा लड़की को खरीदकर अपने पुत्र के बदले मन्दिर के हवाले कर देते थे। धीरे-धीरे यह होने लगा कि सर्वर्ण हिन्दू लड़का और लड़की के बदले अछूतों की कन्याओं को खरीदकर मन्दिर की देवदासी के रूप में सौंपने लगे।<sup>११</sup>

कन्याओं की खरीद-फरोख्त के उपरान्त भी एक-एक पंडे के हिस्से में दर्जनां देवदासियां आ गई और मन्दिरों में बच्चों की बाढ़ सी आ गई। स्थिति तब खराब हुई जब कोई पंडा या उनका चेला, इन्हें अपना नाम देने को तैयार नहीं हुआ क्योंकि वे तो अब भी ब्रह्मचारी थे। नरसी मेहता ने इन लावारिस, आवरा और हराम की सन्तानों की दयनीय दशा को देखकर इनको 'हरिजन' नाम दे दिया। चूंकि देवदासियां हरि की पत्नी मानी जाती थी, इसी से हरि पत्नी के घर (मन्दिर) में पैदा हुई संतान हरि की संतान मानी गई। नरसी ने ऐसा ही विचारकर इन संतानों को 'हरिजन' नाम दे दिया। इस प्रकार हरिजन उन संतानों का नाम पड़ा जिनके पिता का नाम व पता नहीं था अर्थात् हराम की औलाद थे।<sup>१०</sup> यह कुछ समय चला भी लेकिन इस अपमानजनक स्थिति को इस देश के मूलनिवासी कैसे स्वीकार कर सकते थे। परिणामस्वरूप, इसे प्रतिबंधित करने के लिए आन्दोलन करना पड़ा और इससे छुटकारा का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इसी कड़ी में मार्टिन मेकवान का उल्लेख किया जा सकता है- "आज़ादी के बंटवारे के समय पाकिस्तान में जो हिन्दुओं में दलित थे, उन्हें हाथ जोड़कर रोका गया, क्योंकि वे सब सफाई कर्मचारी थे। वे चले जाएं तो देश सड़ने लगेगा। कालांतर में पाकिस्तान में हिन्दू बनकर रहना मुश्किल हो गया, अतः उनमें से लगभग पन्द्रह प्रतिशत ईसाई बन गए।"<sup>११</sup>

ईसाईयत में दलितों की स्थिति का जायजा लेने

के लिए के.विल्सन का यह उदाहरण लिया जा सकता है- 'गांव के एक ईसाई परिवार के बच्चे, एक दुखी ग्रामीण पादरी के बेटे, धर्मशास्त्र पढ़ाने वाले स्कूल के एक छात्र, एक उपदेशक, एक पादरी और धर्मशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में मैं दूरहे पराएपन का शिकार रहा हूं। एक भारतीय के रूप में मैंने पारंपारिक हिन्दू समाज की उत्पीड़क और सामंती प्रकृति को झेला है। मैंने पारंपारिक ईसाई आध्यात्मिक दृष्टि का मनोबल गिराने और अधीनस्थ करने वाली प्रवृत्तियों को भी बर्दाश्त किया है। जब धार्मिक व्यवस्थाओं के अमानवीय रवैये के परे जाने वाले मानवतावादी सांस्कृतिक अतीत का आसरा लेने के अलावा मेरे सामने कोई चारा नहीं बचा है। आज यही मेरा मकाम है।'<sup>१२</sup>

यहां ईसाईयत की जो तस्वीर हमारे सामने उभरकर आती है, वह भी किसी तरह संतोषजनक नहीं है। यह एक दर्दनाक पीड़ा को जन्म देती है। आईए इस कड़ी में छत्तीसगढ़ में अपनाई गई सतनामी रुपी जीवनशैली पर विचार करते हैं। इसका क्या हश्र हुआ, इसे लौरेंस बैब के शब्दों में इस प्रकार देखा जा सकता है- 'सतनामी धार्मिक जीवन का सार छत्तीसगढ़ के ग्रामीणों के बीच हिन्दू धर्म की ग्रामीण किस्म के अलावा कुछ नहीं है। यहां तक कि अधिकतर सतनामी हिन्दू देवी-देवताओं की ही पूजा करते हैं। सतनामियों और उस इलाके की अन्य जातियों में अन्तर यह है कि सतनामी अपने संगठन के संकीर्ण दायरे में ही हिन्दू धर्म की एक भिन्न आचरण पद्धति का पालन करते हैं। उनके अपने पुरोहित, अपने पवित्र स्थल और अपने प्रमुख त्यौहारों का अलग कलेंडर होता है। ये बातें उन्हें हिन्दू पड़ासियों से अलग कर देती हैं। इस भिन्नता को प्रतीक के रूप में दर्शाने वाला सफेद झंडा हर सतनामी बस्ती में प्रमुखता से देखा जा सकता है। ऐसे तरीकों से सतनामी अपनी अलग पहचान हासिल करते हैं और यह पहचान स्थानीय सीमाओं से परे चली जाती है। सतनामी एक जाति भी है और एक क्षेत्रीय धार्मिक समुदाय के रूप

में उनकी पहचान भी है।<sup>१३</sup>

सतनामी के बाद अस्मिता की इस तलाश में पंजाब के आदर्श आंदोलन के नेता मंगू राम का उल्लेख किया जा सकता है। उनकी दलील थी—हम ही इस देश के मूलनिवासी हैं और हमारा धर्म ही आदर्श है। हिन्दू कौम ने बाहर से आकर हमें गुलाम बनाया है। हमारा बिगुल बजते ही सभी चमार, चूहड़े, सैनी, भांजरे, भील यानी सभी अछूत अपनी समस्याएं बताने के लिए एकजुट हो जाते हैं। भाइयो, हम सात करोड़ हैं और हमें हिन्दू के रूप में सूचिबद्ध किया गया है। हमें अलग और आजाद किया जाना चाहिए। हमने हिन्दुओं पर भरोसा किया, लेकिन वे विश्वासघाती निकले। भाइयों, वह वक्त आ गया है, जागो, सरकार हमारी पुकार सुन रही है। सदियां गुजर गईं और हम सोए रहे हैं। भाइयो! मनु की लिखी पंक्तियां देखो, लेकिन वह तो हत्या था। कोई समय था जब हम भारत पर राज करते थे। यह धरती हमारी होती थी... उन्होंने हमारा इतिहास नष्ट किया... बेहतर जिन्दगी गुजारने के लिए आओ एकजुट हो जाओ।<sup>१४</sup> मंगुराम भी अपनी मुहिम में सफल नहीं हो पाए। साफ है कि जिस समाज के विरुद्ध पूरा समाज लामबंद हो, उस समाज में संगठन व अस्मिता आन्दोलन कैसे सकारात्मक स्वरूप धारण कर सकता है।

उपरोक्त विभाजनकारी प्रवृत्ति के संबंध में मुझे चांडाल व श्वपाक जैसे नाम याद आते हैं। यद्यपि बंगाल के चांद गुरु के आन्दोलन के चलते १८९१ में चांडाल शब्द को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया था और इस अपमान से मुक्ति व सार्वभौमिक पहचान व अस्मिता के लिए उन्होंने भी 'मतुआ' धर्म चलाया और इसके प्रचार-प्रसार के लिए 'नमःशूद्र' नाम से पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। इसका प्रभाव अवश्य हुआ होगा लेकिन यह आन्दोलन भी सार्वभौमिकता की दौड़ में पिछड़ गया।

अस्मिताओं की निरंतर परिवर्तनशीलता की इस

कड़ी में सबसे लोकप्रिय और विवादित शब्द 'दलित' पर थोड़ा विस्तार से बात किया जाना जरूरी है क्योंकि यहां इस सवाल का उत्तर तलाशा जाना है कि 'दलित' शब्द भारतीय मूलनिवासियों यानी आजीवकों की अस्मितापरक पहचान हो सकता है या नहीं। इसलिए दलित शब्द को अस्मिता की कसौटी पर परखने के लिए इससे जुड़ी कुछ परिभाषाओं के स्वरु होना जरूरी है।

एक-मांचा इलैयां- 'दलित बहुजन सांस्कृतिक लोकाचार को बरबाद करके ही हिन्दू मिथकशास्त्र की रचना की गई है। दलित बहुजन जातियों को कभी भी 'आधुनिकता' और 'समानता' के रूप में पनपने नहीं दिया गया है।<sup>१५</sup>

दो-इलैया आगे फिर टिप्पणी करते हैं - 'अब खुद धर्म का इतिहास भी अपने अंत पर पहुंच रहा है। हमारे लिए यह जरूरी है कि हम अपने समग्र समाज का 'दलितिकरण' करें। 'दलितिकरण' ही सारे भारतीय समाज में एक नए समतावादी भविष्य की स्थापना करेगा।<sup>१६</sup>

तीन-इलैया के अनुसार - 'दलितिकरण के लिए यह जरूरी है कि सारा भारतीय समाज दलितवाड़ों (यहां मैं खास तौर पर अनुसूचित जातियों के बारे में बात कर रहा हूँ।) से सीखें। हम एक नई चेतना ग्रहण करने के लिए दलितवाड़ों की ओर देखें। हम इन वाड़ों की जिन्दगी को महसूस करें। यह जानें कि यहां क्या सकारात्मक और क्या मानवीय है। इन दलितवाड़ों में ऐसा क्या है जिसे समूचे समाज में फैलाया जा सकता है।<sup>१७</sup>

चार-वी.टी.राजशेखर का दावा है कि बिना जड़ों के वृक्ष की भांति इतिहास अथवा सांस्कृतिक जड़ों से विहीन लोग भी मर जाते हैं।... राजशेखर अपने भाइयों से अपील करते हैं- 'दलित होने, इस प्राचीन धरती के मूलनिवासी होने में गर्व महसूस करो। आओ सिर ऊंचा करके चलें। दलित संस्कृति पर गर्व करें। जो

काला है वह सुंदर है।<sup>१८</sup>

छह-बाबूराव बागुल-‘दलित वह है, जो वर्ण व्यवस्था और तज्जनित मानसिकता को ध्वस्त कर देना चाहता है। जो विश्व और जीवन को नए रूप में ढालना चाहता है।<sup>१९</sup>’

सात-नामदेव ढसाल- ‘अनुसूचित जातियां, बौद्ध श्रमिक, भूमिहीन, भटकने वाली घुमंतु जातियां और आदिवासी सब दलित हैं।<sup>२०</sup>’

आठ-डा. आनंद बास्कर- ‘गांधी जी के हरिजन, श्री मगाटे ने अस्पृश्य, डा. अम्बेडकर ने ‘बहिष्कृत’ एवं अछूत शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। दलित शब्द आधुनिक है और दलितपन प्राचीन। अतः प्राचीन साहित्य में शूद्र, अतिशूद्र, चांडाल, अंत्यज आदि शब्द दलित शब्द के पुरखे हैं।<sup>२१</sup>’

नौ-राजकिशोर के अनुसार - ‘दलित शब्द एक वर्गीय शब्द ठहरता है। भारत एक गरीब देश है! यहां की आधे से ज्यादा आबादी आर्थिक दृष्टि से दलित ही है। यह एक राष्ट्रीय देश है, लेकिन जिन्हें दलित कहा जाता है उनका देश कुछ और है। दलित शब्द उन जातियों के अर्थ में रूढ़ होता जा रहा है, जिन्हें पहले ‘अछूत’ या ‘हरिजन’ कहा जाता था। इनके लिए कानूनी शब्द अनुसूचित जाति है।<sup>२२</sup>’

दस-माता प्रसाद के अनुसार - ‘सन १९३१ में भारत के तत्कालीन जनगणना आयुक्त द्वारा जातियों के वर्गीकरण के आधार पर जनगणना में दलित जातियों के लिए निम्न अर्थ दिए गए हैं- ‘मैंने दलित जाति, डिप्रेस्ड कास्ट उन जातियों को माना है, जिनके साथ शारीरिक स्पर्श होने के फलस्वरूप उच्च जातियों के हिन्दुओं को शुद्धि करना आवश्यक हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस शब्द को किसी पेशे से सम्बद्ध कर दिया जाए। वरन् यह शब्द उन्हीं जातियों के लिए उपयुक्त होगा, जिनका उदाहरण के तौर पर हिन्दू समाज में अपनी परंपरागत स्थिति के कारण मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध है या जिनके कुएं अलग हैं, या जिन्हें

पाठशालाओं में बैठने नहीं दिया जाता है और बाहर ही रहना पड़ता है, या जो इसी प्रकार की अन्य सामाजिक असमानताओं से पीड़ित है।<sup>२३</sup>’

कांचा इलैया अपनी पहली मान्यता के तहत दलित बहुजन के सांस्कृतिक लोकाचार की बात करते हैं लेकिन यह क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन जब हम उनकी दूसरी मान्यता पर आते हैं तो इलैया दलितिकरण का आह्वान करते नजर आते हैं और इससे सारे समाज में समता स्थापित होने का दावा करते हैं। तीसरी मान्यता के अनुसार वे दलितबाड़ों को जीवन की आदर्श स्थिति के रूप में देखते हैं और इनसे प्रेरणा की बात करते हैं। इन तीन मान्यताओं के पाठक स्वयं निष्कर्ष निकालें कि इसमें दलित व दलितिकरण पर गर्व करने वाली कौन सी बात है और ऐसे आह्वान किसी भी समाज की अस्मितापरक पहचान बनाने में कितनी मदद कर सकते हैं। दूसरे, वी टी राजशेखर की मूलनिवासी होने पर गर्व करने की बात तो समझ आती है लेकिन दलित में गर्व करने की कौन सी बात है या काला होने सुंदरता का कौन सा प्रतीक है, यह समझ से बाहर है। ऐसी स्थापनाएं सवाल खड़ा करती हैं कि क्या गर्व करने के लिए दलित होना और सुन्दरता के लिए काला होना जरूरी है। अस्मितावाद की इस श्रृंखला में बाबूराव बागुल व नामदेव ढसाल भी हाशिए से बाहर खड़े नजर आते हैं। आनंद भास्कर इसे प्राचीन बताकर ऐसा लगता है कि दलितों की प्राचीनता को स्थापित करना चाहते हैं। यही नहीं, राजकिशोर की राजनीतिक टिप्पणी भी हमें अपनी अस्मितापरक पहचान की जंग में कोई मदद करती नहीं दिखती। हां, माता प्रसाद की टिप्पणी यथास्थिति का बखान अवश्य करती है लेकिन किसी गरिमामय अस्मिता की स्थापना में असमर्थ नजर आती है।

जिस संस्कृति व इतिहास की बात वी.टी.राजशेखर कर रहे हैं, उसी संबंध में दलित जैसी शापित अस्मिता से मुक्ति के लिए डा. अम्बेडकर ने भी अपना एक

अलग मार्ग तलाशा था और दलितों को 'क्षत्रियों' की संज्ञा दी थी। उन्होंने अछूत या अस्पृश्य जैसे शब्दों को स्थापित कर या दलित शब्द का प्रयोग कर इतिहास नहीं रचा था। वे इस अपमानजनक शब्दों पर गर्व की बात नहीं करते थे।

उपरोक्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दलित समाज की जितनी भी तथाकथित गरिमामय अस्मिताएं अभी तक स्थापित हुई हैं, वे किसी न किसी मुकाम पर आकर घुटने टेकती नजर आती हैं। इसलिए हम आजीवक रुपी अस्मिता की बात कर रहे हैं। इसके पीछे इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता है। यह वैभवपूर्ण व गरिमामय सभ्यता व संस्कृति की परिचायक है। इसके समर्थन के पीछे एक अन्य प्रबल कारण यह है कि यह वर्तमान की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति में समक्ष है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह भी है कि यह आजीवक संस्कृति आज की सबसे अधिक प्रासंगिक व गरिमामय अस्मिता धम्म को भी अपने अन्दर समाहित करने की क्षमता रखती है।

#### संदर्भ :

१. डा.अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-१, पृष्ठ ७७-७८
२. जवाहर लाल नेहरू की आत्मकथा का अंश जो सी.बी.एस.सी. की दसवीं कक्षा की अंग्रेजी की पुस्तक में पढाया जाता रहा है।
३. कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया: मूल लेखक डा.अम्बेडकर, संकलन टिप्पणियां कुसुम मेघवाल, पृ. ३०
४. खुशवंत सिंह-बुरा माना या भला, हिन्दुस्तान दिनांक २४-०३-२००७ (शीर्षक-अपनी हैसियत में कैद हिन्दुस्तानी)
५. तद्भव, अंक-१३, अक्टूबर २००५, शीर्षक-१८५७ का दलित पक्ष, पृ. ३१
६. आधुनिकता के आईने में दलित, संपादन-अभय

कुमार दुबे, पृ. ४२१-४२२

७. डा.अम्बेडकर वाङ्मय, खण्ड-७, पृ. २१
८. डा.अम्बेडकर : राईटिंग्स एंड स्पीचिज, खण्ड२, (बम्बई १९८२) संपादन व संकलन वसंत मून, पृ.१९५
९. एस.एल.सागर, हरिजन कौन और कैसे, सागर प्रकाशन, दरिबा मैनपुरी (उत्तर प्रदेश) पृ.१६
१०. वही-
११. के.विल्सन, दि ट्वायस एलिनेटिड:कल्चर ऑफ दलित क्रिश्चियंस, हैदराबाद, बुकलिंग्स कारपोरेशन, १९८२, पृ.१
१२. मार्टिन मेकवान, पुस्तक 'मेरी कथा,' वाणी प्रकाशन, दरियागंज, राष्ट्रीय सहारा-समीक्षा, दलित आंदोलन की अपनी कथा दिनांक मई १३, २००७
१३. लारेंस बैब, 'दि सनातमीज:पालिटिकल इन्वाल्वमेंट आफ ए रिलिजियस मूवमेंट,' संकलित: महार मार्शल, अनटचेबल्स इन कंटम्पेरी इंडिया, ट्यूस्कन, दि यूनिवर्सिटी आफ अरिजोना प्रेस, १९७२, पृ.१४६
१४. घनश्याम शाह, अस्मिताओं का अस्तित्व, पुस्तक-आधुनिकता के आईने में दलित, संपादक - अभय कुमार दुबे, पृ. २१०
१५. कांचा इलैया, मै हिन्दू क्यों नहीं हूं, अनुवादक मुकेश मानस, प्रकाशक आरोही बुक ट्रस्ट नई दिल्ली, पृ.१०४
१६. -वही-पृष्ठ १०५
१७. -वही-पृष्ठ १०५
१८. वी.टी.राजशेखर, 'ए मैन दैट डिस्ट्रायड दलित आइडेंटिटी,' दलित वायस, खण्ड-८, अंक-२, दिसंबर १-१५, जून १-१५, १९८८
१९. बाबूराव बागुल, अस्मितादर्श, पृ. ८३
२. नामदेव, ढसाल, अस्मितादर्श, पृ.८३
२१. डा.आनंद बास्कर, हिन्दी साहित्य में दलित चेतना, पृ.१७
२२. राजकिशोर, 'अगर मैं दलित होता', धर्मयुग, मई १९९४, पृ.२२
२३. माता प्रसाद, 'हिन्दी काल में दलित काव्यधारा', पृ.३



## ब्राह्मण ओझा तंत्र, वेद और अन्य संस्कृतियों की किताबें

-मुद्राराक्षस

मिस्र से लेकर तुर्की तक और फिर सीरिया और ईरान तक जो प्राचीन और समृद्ध सांस्कृतिक समुद्र फैला हुआ था, उसका एक दूसरा पक्ष भी हम देखेंगे। सनातनी पारंपारिक वेद-विचारकों और अब धार्मिक ब्राह्मणवादी वामपंथियों की ऐसी धारणा रही है कि वेद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक है।

तर्कशील वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न इतिहासकार वेदों को लगभग साढ़े तीन हजार साल पुराना मानते हैं। **क्या वेद सचमुच दुनिया का सबसे प्राचीन ग्रंथ है?**

जहाँ से अब्राहम परस्त मीडियाई ब्राह्मण आए वह सारा इलाका लिपि को बहुत अच्छी तरह जानता था। निश्चय ही भारत में आया हुआ ब्राह्मण भी वेद लिखता होगा, पर अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए उसने जो जातीय अलगाव बरता और रहस्यमय गोपनीयता का व्यवहार शुरू किया, उसके चलते उसे अपने किताब को रहस्य में लपेटना था और छुपाकर रखना था। अपनी पारंपारिक वाणी पर वह सिर्फ अपना ही अधिकार रखना जरूरी समझता था। चूँकि शिक्षा को वह अपने तक रखना चाहता था और यज्ञ पर सर्वाधिकार सुरक्षित रखता था, इसलिए उसने साँप का जहर उतारने वाले ओझा की तरह निश्चय कर रखा था कि वह अपनी जानकारी छुपाकर रखेगा। यही वजह है कि एपिक ऑफ गिलगमेश, पैपिरस पाण्डुलिपियाँ या डेड सी स्क्रोल्स की तरह वेद की कोई प्रति पुरातत्त्ववेत्ताओं को तीन-साढ़े तीन हजार साल पुरानी नहीं मिली। उससे पुराना कोई उल्लेख दुनिया के प्राचीन साहित्य में वेदों का नहीं ही है। एपिक ऑफ गिलगमेश दुनिया की अनेक प्राचीन संस्कृतियों में मिल जाता है, वेद भारत में भी नहीं मिलते।

वेद दुनिया की प्राचीनतम किताब तो नहीं ही है,

उसके कथ्य का भी ज्यादा महत्वपूर्ण हिस्सा मिस्र रसशाम्र और असीरियाई इलाकों के प्राचीन आलेखों के बहुत बाद का है और जैसे शतपथ ब्राह्मण की प्रलयकथा एपिक ऑफ गिलगमेश की कथा का अनुकरण है, उसी तरह वैदिक साहित्य का काव्यात्मक, आध्यात्मिक और भावप्रधान हिस्सा उक्त सांस्कृतिक महासागर का उल्था लगता है। इसके कुछ उदाहरण हम देखना चाहेंगे। ऋग्वेद में यम-यमी, सरमा-पणि, पुरुवा-उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। बहुत से भारतीय रंग चिन्तक बहुत उत्साह से इन संवादों को भारतीय नाटक परंपरा के मूल से जोड़ते हैं, पर साढ़े तीन हजार साल पुराने अंशों की तुलना रसशाम्र या मिस्र से मिले नाट्यालेखों से करनी चाहिए।

ऋग्वेद के मंडल १०, सूक्त १० में भाई-बहन यम-यमी के बीच संवाद है। कुल १४ मंत्रों में ये संवाद हैं, पर नाटक के संवादों की तरह ये नहीं लिखे हैं। वे कुछ इस तरह हैं-

किं भ्राता सद्यदनाथं भवति किमु स्वसा  
यान्निर्ऋतिर्निगच्छात्।  
कामभूता बद्धे तद्रूपामि तन्वाम् में तन्वं  
सं पपृग्धि।

अन्येन मत्पुभुदः कल्पयस्व न ते भ्राता।

सुभगे वष्ट्येतत्॥

ये मंत्र संख्या ११ और १२ हैं- वह भाई कैसा जिसके रहते बहन अनाथ की तरह रहे तथा कामातुर बहन के रहते भाई का दुख दूर न हो। मैं तुम्हें छूना नहीं चाहता, अतः तुम मुझसे दूर हटो।

निश्चय ही ये संवाद हैं, पर नाटक जैसे लिखा जाता है उस तरह लिखे नहीं गए हैं। इसके विपरीत एक आलेख उस नाटक का देखें जो मिस्र में पाया गया है- (यह आलेख सैक्रेड बुक्स ऑफ द वर्ल्ड,

लेखक ए.सी. ब्यूके, पेलिकन, १९६७ के संस्करण में है) और ज्यों-का-त्यों उद्धृत है। अनुवाद मूल मिस्री भाषा के आलेख में अंग्रेजी में किया गया है-

दृश्य १९

ऐसा हुआ कि दो दूध बेचने वालियाँ अन्दर लाई गईं। होरस अपने बच्चों को संबोधित करता है।

होरस (अपने बच्चों से) : तुम मेरी आँख से पृथ्वी पर मेरे घर को भरो।

होरस (थाथ से कहता है): वे खुद लेकर आएँ। (होरस के बच्चे)

(दो कसाई) :

होरस (बच्चों को संबोधन) : मैंने तुम्हारी रक्षा की है। (होरस के बच्चे) (राजा की संतानों)

होरस (बच्चों को संबोधित करता है) : जमीन पर लेट जाओ।

दृश्य २३

मणिखचित (या जड़ित) हार दिया जाता है।

ऐसा हुआ कि मणिजड़ित हार लाया गया। होरस दुबारा सेथ से अपनी आँख लेता है।

होरस (सेथ से) : मैंने अपनी आँख ले ली है जो मणि पत्थर है। (आँख) (एक मणि)

होरस (सेथ से कहता है) : पीठ घुमा लो। मैंने तुम्हें नफरत से देखा है। (दो आँखें) (दो मणियाँ) (दो मानवीय उदर) (थाथ के वासी)

होरस (सेथ से कहता है) : मेरी आँख लेकर आओ। वह तुम्हारे लिए रक्ताभ थी। तुम्हारे मुँह में वह खून जैसी लाल थी। (लाल आँख) (...)

अनुवादक ने उद्धृत किया है कि उक्त पैपिरस आलेख करीब ४००० साल पहले की खोजी गई मिस्र की वस्तुओं में मिले हैं और उससे भी ज्यादा पुराने हैं। लेखक ने इस नाटक की तुलना रसशाम्र में लिखे नाट्यालेखों से की है। हैरानी की बात है कि यूनानी या अन्य नाटकों की तरह इन आलेखों में नाट्य निर्देश

भी हैं। अनुमान है कि यह नाटक प्रस्तुति राजा के सिंहासन पर बैठने के समय होती होगी और सारे देश में घुमाई जाती होगी।

जो नाट्य-लेखन के शिल्प से परिचित हैं वे स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि उक्त आलेख, मुहावरे में बहुत अस्पष्ट होने के बावजूद नाटक का समुचित आलेख है जबकि यम-यमी या पुरुरवा-उर्वशी के ऋग्वेदिक संवाद कविता के शिल्प में लिखे गए हैं, नाटक के शिल्प में नहीं। यही नहीं ऋग्वेद के इन अर्धनाट्यों की तुलना में रसशाम्र या मिस्र की पांडुलिपियाँ कहीं ज्यादा प्राचीन हैं।

वेद-भक्तों को एक गलतफहमी ने तबाह किया है। वे सोचते हैं सबसे महान् वही संस्कृति हो सकती है जो सबसे पुरानी हो। अगर ऐसा होता तो विश्व में सबसे उन्नत और विकसित मिस्र और सीरिया के लोग होते और बससे पिछड़े योरोपीय होते। यूनान और क्रीट की प्राचीन संस्कृतियों के बावजूद ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी मुश्किल से पिछली आधी सहस्राब्दि की देन हैं। अमरीका तो सिर्फ दो-ढाई सदियों का देश है और ज्ञान-विज्ञान ही नहीं समृद्धि में भी बड़ा देश है। ब्राह्मण यह सिद्ध करने की कोशिश में लगा रहा कि उसके वेद एक अरब, पंचानवे करोड़ साल से ज्यादा पुराने हैं। इस मसखरी समझ से सांस्कृतिक बड़प्पन सिद्ध नहीं होता। **इस देश में पुरातात्विक काम इसीलिए विश्वसनीय कभी नहीं हो पाया कि अधिकांश विचारक इस भ्रम के शिकार रहे कि उन्हें ऐतिहासिक सत्य से ज्यादा जरूरत है प्राचीनता सिद्ध करने की।** खैर, यह एक अलग प्रसंग है और इसका जिक्र इसलिए किया गया कि इस बात को लेकर लोग वितंडा खड़ा करें कि वैदिक संस्कृति से बाइबलीय, सीरिया, मिस्र या ईरान की संस्कृति ज्यादा पुरानी क्यों कह दी गई? पिछले कुछ दशकों के सवर्ण वामपंथी वेद-विचारक सिर्फ वैदिक समाज की प्राचीनता को पूर्वाग्रह और मोह में मोहनजोदाड़ो-

हड़प्पा को वैदिक साबित करने की कवायद में लगे हुए हैं।

लंदन के ब्रिटिश संग्रहालय में असीरियाई कोलाक्षर लिखित पकाई मिट्टी की पट्टिकाएँ हैं। इनमें से अनेक सुमेर संस्कृति के समय की हैं। इनमें से चन्द्रमा की प्रार्थना का एक उल्लेख ऊपर उद्धृत लेखक ब्यूके ने अनूदित किया है। (संदर्भ सैक्रेड बुक्स ऑफ द वर्ल्ड)-

इस प्रार्थना की तुलना ब्राह्मणों की प्रार्थनाओं से करने पर आश्चर्यजनक समानताएँ दिखती हैं।

वैदिक-कस्त्वा युनाक्ति, सात्वा युनक्ति (किसने तुम्हें नियुक्त किया? उसने तुम्हें किया आदि की तुलना जरथुष्ट्र के इस कथन ज्यादा अलग नहीं है- तुम कौन हो? तुम किसके हो?)

वेदों में उषा की स्तुति के सूक्त हैं। वामपंथी वेद-भक्त उनके शैदाई हैं। पर उनसे कहीं ज्यादा प्राचीन मिस्र में अतीत की स्तुति का अंश है-

आकाश के क्षितिज में तुम्हारा उदय सुंदर है।

ओ जीवन्त ओतीन, जीवन के उत्स

जब तुम पूर्व के क्षितिज में उगते हो

तुम सारी पृथ्वी को सौन्दर्य से भर देते हो

तुम सुंदर हो, महान हो, आभायुक्त हो, हर प्रदेश के ऊपर हो।

तुम्हारी किरणें पृथ्वी को नापती हैं, उस सब को भी जो तुमने बनाया है।...

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के सूक्त ७५ व्युषा आवो दिविजा आदि मंत्र में उषा को संबोधन है- आकाश से उत्पन्न प्रभात ने उजाला फैलाया। उसने अँधेरे को नष्ट किया है प्रभात की उषा! हमें भाग्यशाली बनाओ, हमारे लिए समृद्धि लाओ... उषा की किरणें देवकृत की अभिव्यक्ति हैं। वे आकाश में भरकर चारों ओर फैल जाती हैं।

बेबिलोन भारत की ब्राह्मण संस्कृति से बहुत ज्यादा प्राचीन है। उसके प्रार्थना गीत दुनिया की अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा कहीं ज्यादा मानवीय हैं और

उनमें ऋग्वेद के नासदीय सूक्त या उपनिषदों के कथ्य बिना किसी दार्शनिक आवरण के मिलते हैं-

जाने हुए या अपरिचित ईश्वर के सामने मैं अपने दुख रखता हूँ

जानी हुई या अपरिचित देवी के सामने मैं अपने दुख रखता हूँ

मेरे प्रभु मेरी ओर देखो और मेरी प्रार्थना सुनो... (सैक्रेड बुक्स ऑफ दि वर्ल्ड-३९)

मिस्री संस्कृति के विशेषज्ञ जी.मास्पेरो ने उन्नीसवीं सदी के अंत में इजिप्ट के प्राचीनतम साहित्य का अध्ययन किया था। मास्पेरो ने प्राचीन पत्र, कविताओं और एक उपन्यास या प्राचीन कथाकृति के अंश अपनी किताब 'न्यू लाइट ऑन ऐंशिप्ट इजिप्ट'- (फ्रेंच से अंग्रेजी में अनूदित) में उद्धृत किए हैं जो राजवंशी के बावजूद सांस्कृतिक खुलेपन का नमूना है। इसमें सबसे दिलचस्प है प्रेमपत्र।

उक्त बहुत संक्षिप्त विवरण सिर्फ इस नजरिए से दिया गया है कि हम जान सकें जब ब्राह्मण भारत में वेद लिख रहे थे, दुनिया में लेखन की दिशा में क्या और कैसा काम हो चुका था।

निश्चय ही जो अब्राहमणीय ब्राह्मण पश्चिम एशिया में मिस्र से लेकर कैस्पियन सागर और असीरिया क्षेत्र से गुजरते हुए युद्धों की अशांति से संतप्त होकर भारत आए, उनकी किताबों में उक्त समूचे इलाके के लेखन और मिथकों की छायाएँ मौजूद रहनी स्वाभाविक थीं। लेकिन इस स्थिति का एक अफसोसनाक पहलू भी है। ब्राह्मण ने न सिर्फ अपनी जातीयता को सबसे अलग रखा, अपने लेखन को भी गोपनीय बना दिया ताकि उसकी हिस्सेदारी और कोई न कर सके।

लिखित शब्द या साहित्य का चरित्र बहुत अजीब होता है। लिखी गई चीज पर एकाधिकार असंभव होता है। लिखी गई चीज एक तरह से पूरी मनुष्य सभ्यता की हो जाती है। ब्राह्मण को इसी बात पर एतराज था। उसके कथित कर्मकाण्ड का चरित्र हमें

देखना चाहिए अपने कर्मकाण्ड को उसने रहस्यमय बनाया और घोषित किया कि इसे कोई दूसरा जान-समझ नहीं सकता। जिस कर्मकाण्ड को वह जादू-टोने में बदल चुका था, उसे ठीक एक कबीलाई ओझा की तरह वह गोपनीयता रखता था। यों भी अब्राहम की वैध संतति के विपरीत पैदा हो गए मीडियन कबीले को गहरी रुचि जादू-टोने में थी। ईरान के उत्तर-पश्चिम में इन्हीं मीडियन की जो दूसरी शाखा आकर बसी थी उसे भी जादू-टोने का अभ्यास था।

वेद दुनिया की वह अनोखी किताब है जिसके बारे में खुद ब्राह्मणों ने ही कहा है कि वेदार्थ भाषा जानने मात्र से नहीं समझा जा सकता। वेदमंत्रों का वास्तविक अर्थ उसके गायन के स्वरों और बलाघात के बिना नहीं समझा जा सकता। यह सब भी वेदों को गुह्य और रहस्यमय बनाता है। वेद ऐसी किताबों में परिवर्तित किए गए जो तंत्र-मंत्र का असर डालती हों। वेदों में मंत्र पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञों में दुहराए जाने लगे, बारिश लाने के लिए मंत्र पढ़कर यज्ञ किए जाने लगे, युद्ध जीतने के लिए, राजगद्दी पर बैठने के लिए, विपत्तियाँ दूर करने के लिए, शादी, मृत्यु आदि के मौके पर यज्ञ होते थे जिनमें यही मंत्र पढ़े जाते थे। दिलचस्प यह भी है कि जिनके लिए ये मंत्र पढ़े जाते थे वे कभी भी मंत्रों का मतलब नहीं समझते थे। मंत्र उनके लिए साँप का जहर उतारने वाली गुह्य ध्वनि मात्र होते थे क्योंकि वेदों की भाषा समझे जाने वाला कोई समय था, इसके स्पष्ट सबूत नहीं मिलते बल्कि आज से २७०० या २८०० साल पहले भी वेद में क्या लिखा है इसे जानने की कोशिश होती थी। कौत्स और यास्क जैसे लोग इसके उदाहरण हैं।

हमें नहीं भूलना चाहिए कि कौत्स अर्थाभाववादी विद्वान थे, जिनका दावा था कि वेद निरर्थक वाक्यों का संग्रह है। कौत्स का विरोध करते हुए यास्कर ने उस पद्धति को खोजने की कोशिश की है, जिससे वेद के कुछ खास अर्थ निकाले जा सकें। एक दूसरी बात

भी याद रखनी चाहिए कि सायण, उच्चट, महीधर से लेकर दयानन्द सरस्वती तक हर किसी के भाष्यों का ज्यादा बड़ा हिस्सा एक-दूसरे से बहुत अलग है। यह भी हमें ध्यान में रखना होगा कि वेद आज जिस रूप में हमें उपलब्ध हैं, वे विवध विद्वानों या सम्प्रदायों की अपनी-अपनी अभिरुचियों के परिणाम हैं और साढ़े तीन हजार बरस पहले उनमें क्या था, यह जान सकता असंभव है। वेदों में बहुत बार इन्द्र आदि देवताओं के स्तुतिकर्ता प्राचीन स्तोत्रों का जिक्र करते हैं। वे क्या थे और क्यों उपलब्ध नहीं हैं? कुछ ऋचाओं का जिक्र इस तरह है जैसे वे दी गई ऋचाओं से अलग हों। ऋग्वेद (५.४४.१४) के मंत्र में सामवेद और ऋचाओं का जिक्र है। मंडल ८, सूक्त ३२ के पन्थ अदुप गायक आदि मंत्र में कहा गया है-तुम इन्द्र की स्तुति करो, उन्हीं के लिए स्तोत्र रचो। यानी मंत्रों के अलावा कुछ लिखो, यह कहा गया है। मंडल ३, सूक्त ३२ का मंत्र है यज्ञनेन्द्रमवसा आदि। इसमें कहा गया है-प्राचीन मध्यकाल और नए समय के स्तोत्रों से इन्द्र की वृद्धि होती है।

प्राचीन, मध्यकालीन और नए स्तोत्र कौन-से हैं और वे कहाँ गए? पुराने और नए स्तोत्रों का जिक्र ऋग्वेद में और जगह भी है। दूसरे मण्डल के सूक्त २० में तो इन्द्र के समीप (या सामने) पूजा करने वाले नए स्तोत्रों का जिक्र है (तमु सतुष इन्द्र आदि मंत्र)। मं. ३, सूक्त ३२, मंत्र १३ में भी प्राचीन, मध्यकालीन और नए स्तोत्रों का जिक्र हुआ है।

यह विचित्र स्थिति है। विश्व की किसी भी दूसरी संस्कृति का धर्मग्रंथ इतना अनिश्चयात्मक नहीं है। किसी अन्य धर्मग्रंथ के इतने परस्पर विरोधी भाष्य भी नहीं है, पाठ-भेद भी नहीं हैं। उनमें मनमर्जी के प्रक्षेप भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण के पास और कोई चारा नहीं रहा होगा कि वह वेदों को गुह्य, ज्ञान, ओझा का अर्थहीन प्रलाप बनाएँ और जादुई प्रभाव के लिए अर्थ बिना समझे या समझाए जरूरतमंद के सामने

दुहराएँ। यह एक तरह की सामूहिक सम्मोहन की प्रक्रिया है। यज्ञ, यज्ञ की आग, आग में जलाए जाते पदार्थों की गंध और धुआँ, यज्ञ करते समय स्वर और लय के साथ अनजाने (अर्थहीन या गुप्तार्थी) मंत्रों का निरन्तर पाठ निश्चय ही सामूहिक सम्मोहन का काम करता है। वेद पाठ के सामूहिक स्वर की तुलना बहुत-से मेंढकों द्वारा एक साथ ध्वनि करने से की गई है। इस तरह की आवाज लंबे समय तक सुनने वाला निश्चय ही सम्मोहन की अवस्था में पहुँच जाता है।

दसवें मंडल के सूक्त १६१ से १६६ तक यहाँ जरूर देखें जाने चाहिए इन सूक्तों के देवता बड़े विचित्र हैं- देवता राजयक्ष्मघ्नम् (सू.१६१) यानी राजयक्ष्मा विनाश देवता, गर्भसंस्त्रावे प्रायश्चित्तम् देवता (सू. १६२) यानी गर्भ गिरने का प्रायश्चित्त देवता, देवता यक्ष्मघ्नम्

(सू.१६३) यानी तपेदिक विनाश देवता, देवता दुस्वप्नघ्नम् यानी बुरे सपने (नाइट मेयर?) की समाप्ति का देवता। कोई भी देख सकता है कि ये देवता केवल किसी ओझा प्रजाति के व्यक्ति के ही हो सकते हैं। सूक्त १६४ के अपेहिमनसस्पते आदि मंत्र में कहा जाता है- हे बुरे स्वप्न, तुमने हमारे अन्दर कब्जा कर लिया है, अब तुम यहाँ से भाग जाओ, कहीं दूर जाओ। दुःस्वप्नों का कारण समझना कठिन नहीं है। इसी सूक्त के मंत्र ४ में स्वप्न पीड़ित द्वारा एक पाप किए जाने का आत्मस्वीकार है। उस व्यक्ति ने स्वीकार किया है कि उसमें ब्राह्मण द्रोह का पाप हो गया है। जाहिर है ब्राह्मणों ने अपने सामूहिक सम्मोहन द्वारा पीड़ित दिमाग में यह बात बैठा दी होगी कि ब्रह्मद्रोह मृत्युदण्ड के लायक बड़ा पाप है।

## ‘जाति’ शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख

जाति शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम निरुक्त में कृष्ण जाति के अर्थ में किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में, जाति शब्द का प्रयोग वैश्य के लिए हुआ है, ऐसा उल्लेख मिलता है। सूत्रकारों ने पृथक जनसमुदाय के लिए जाति शब्द का व्यवहार किया है। मनु ने भी जाति शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर कई अर्थों में किया है।

## विद्रोही संत तुकाराम का ब्राह्मणीकरण

-मा. वामन मेश्राम

ब्राह्मणीकरण यह आदमी के मनोविज्ञान में परिवर्तन लानेवाली संकल्पना है। 'ब्राह्मणीकरण' से मनुष्य के दिलों-दिमाग में 'ब्राह्मणीकरण' नामक मनोवैज्ञानिक बीमारी निर्माण की जाती है। जब यह बीमारी समाज में फैलती है तब इस बीमारी का गंभीर परिणाम आँखों के सामने आता है। मूलनिवासी बहुजन समाज का अ-ब्राह्मणीकरण किये बगैर 'ब्राह्मणीकरण' का मसला हल नहीं किया जा सकता। छत्रपति शिवाजी महाराज को सामान्य लोगों में मान्यता है। जिस तरह शिवाजी महाराज के माध्यम से उनको माननेवाले समाज का ब्राह्मणीकरण किया गया ठीक उसी प्रकार विद्रोही संत तुकाराम महाराज की भी समाज में मान्यता है इसलिए मूलनिवासी बहुजन समाज का ब्राह्मणीकरण करने के लिए संत तुकाराम महाराज का इस्तेमाल किया गया। आज के ब्राह्मण ऐसा प्रचार करते हैं कि तुकाराम महाराज सदेह वैकुण्ठ को गये। जो आदमी स्वयं मोक्ष (स्वर्ग) को लात मारता है वह वैकुण्ठ को कैसे जा सकता है?

### 'ब्राह्मणीकरण' का लक्षण :

'ब्राह्मणीकरण' यह समाजशास्त्र का एक मान्य सिद्धान्त है। देश में दक्षिण भारतीय डा. श्रीनिवासन नामक समाजशास्त्री हुए हैं। उन्होंने 'संस्कृतिकरण' नामक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। अपने सिद्धान्त में श्रीनिवासन बताते हैं कि अनुसूचित जाती, जनजाति, अन्य पिछड़ी जातियाँ ब्राह्मणों का धीरे-धीरे अनुकरण करना शुरु करती हैं। एक समय ऐसा था जब ब्राह्मण गाय का मांस खाते थे और पिछड़ी जातियाँ भी मांस खाती थी। अब ब्राह्मणों ने गाय का मांस खाना छोड़ा तो पिछड़े वर्ग के लोगों ने भी मांस खाना छोड़ा। बिहार में कुर्मी जाति के लोग हैं।

वहाँ ब्राह्मणों ने विधवा स्त्रियों का विवाह बंद

किया तो कुर्मियों ने भी अपनी जाति की विधवाओं की शादी पर पाबंदी लगायी। पटना और नालंदा के आसपास के जो कुर्मी जाती के लोग हैं वे दूसरे कुर्मी की तुलना में अपने आप को ज्यादा ऊँचा मानते हैं। क्यों? क्योंकि दूसरे प्रान्त के कुर्मी अपनी विधवाओं की शादी करते हैं। यानी नालंदा और पटना के आसपास के कुर्मी जाति के लोग नालायकी करते हैं और नालायकी कर यह कहते हैं कि हम ऊँचे हैं। यह सोचनेवाली बात है। डा. श्रीनिवासन ने अपने सिद्धान्त में 'ब्राह्मणों का पिछड़ी जातियों द्वारा अनुकरण और अनुसरण' करने की पिछड़ी जातियों की जो प्रक्रिया है, उसे 'संस्कृतिकरण' नाम दिया है।

वैसे तो वह 'ब्राह्मणीकरण' कहना चाहता है मगर डा. श्रीनिवासन स्वयं ब्राह्मण होने की वजह से उन्होंने सोचा होगा कि यदि इस सिद्धान्त को मैं 'ब्राह्मणीकरण' नाम देता हूँ तो गैर ब्राह्मणों में इसकी प्रतिक्रिया निर्माण होगी। इसलिए उसने ब्राह्मणों के हितों को ध्यान में रखते हुए (चूँकि संस्कृत यह ब्राह्मणों की प्रतीक भाषा है इसलिए) संस्कृत शब्द को ब्राह्मणीकरण के लिए उपयोग में लाया तथा उस सिद्धान्त का नाम उसने रखा संस्कृतिकरण। इस संस्कृतिकरण के सिद्धान्त में लोग स्वेच्छा से ब्राह्मणीकरण करवाते हैं ऐसा डा. श्रीनिवासन का कहना है।

मगर यह पूरा सच नहीं है। यह अधूरा सच है। क्योंकि ब्राह्मणीकरण यह स्वेच्छा से होनेवाली प्रक्रिया नहीं है। षडयंत्रपूर्वक योजनाबद्ध तरीके से महापुरुषों के इतिहास को, उनके जीवन संघर्ष को लोगों के सामने रखा जाता है। इसमें लोगों की स्वेच्छा नहीं है। जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था खत्म होकर हम सब भाई-भाई ऐसा न बनें इसलिए वे हमें उनके

अंदर समाहित नहीं करते।

हम समता के आधार पर इकट्ठा आएं, विषमता का खात्मा करेंगे इस उद्देश्य से ब्राह्मणीकरण नहीं किया जा रहा बल्कि ब्राह्मणीकरण यह ब्राह्मणों का वर्चस्व बरकरार रख कर ब्राह्मणों को शीर्षस्थान पर रख अन्य सभी लोगों को किनारे करने की प्रक्रिया है। इसे स्वेच्छा प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता बल्कि षडयंत्रपूर्वक लोगों की मानसिकता में अपने अनुकूल मत परिवर्तन करवाने के लिए यह ब्राह्मणीकरण किया जा रहा है। 'संस्कृतिकरण' अर्थात् ब्राह्मणीकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित करने से डा. श्रीनिवासन ने दो उद्देश्य साध्य किये।

एक तो ब्राह्मणों के हितों का रक्षण भी हो गया और ब्राह्मणों की जो प्रतीक भाषा है उस संस्कृत भाषा का इस्तेमाल कर डा. श्रीनिवासन बताना चाहते हैं कि यह 'ब्राह्मणीकरण' है। संस्कृत ब्राह्मण का ही प्रतीक शब्द है।

यह इतना पक्का प्रतीक है कि ब्राह्मण और संस्कृत एक जान है। इसलिए अपनी बात को पेश करने के लिए डा. श्रीनिवासन ने संस्कृतिकरण शब्द का चुनाव किया। उसने ब्राह्मण को उजागर होने से बचाया मगर हम क्यों छुपायें? हम क्यों बचाये? हम यह बात लोगों में उजागर करवाना चाहते हैं इसलिए 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का इस्तेमाल करते हैं।

मूलनिवासी बहुजन समाज में जन्मे महापुरुषों के जीवन संघर्ष का, उनकी प्रतिमा का, उनके जीवन उद्देश्य का, उनके जीवन चरित्र का ब्राह्मणीकरण कर उनकी प्रतिमा लोगों के सामने रखने का प्रयास करने की वजह से हमारे लोगों का बड़े पैमाने पर ब्राह्मणीकरण होता हुआ हमें दिखायी पड़ता है। इसलिए ब्राह्मणीकरण के लक्षणों के सम्बंध में कुछ महत्वपूर्ण बातें हमें ध्यान में रखनी होगी। वर्ण जाति अस्पृश्यता एवं महिलाओं की गुलामी इन मुल्यों को मान्यता देनेवाली मानसिकता बनानेवाली मगर प्रच्छन्न रूप से होनेवाली

प्रक्रिया यानी ब्राह्मणीकरण।

ब्राह्मणीकरण का दूसरा अर्थ यह भी है कि 'मानसिक गुलामी निर्माण करनेवाली प्रक्रिया ही ब्राह्मणीकरण है।' आदमी के दिलों-दिमाग से विचार खत्म करनेवाली, सोचने की बुद्धि खत्म करनेवाली, व्यक्ति की विवेकशिलता नष्ट करनेवाली यह प्रक्रिया है। ग्राम्य भाषा में कहा जाए तो आदमी को जानवर बनाने की प्रक्रिया यानी ब्राह्मणीकरण। ब्राह्मणीकरण का अन्य एक अर्थ यह है कि ब्राह्मणों का नेतृत्व, ब्राह्मणों का नियंत्रण एवं ब्राह्मणों को मार्गदर्शक के तौर पर मान्यता देने की प्रक्रिया को ब्राह्मणीकरण कहते हैं। हमारा दुश्मन यदि आदिवासियों का ब्राह्मणीकरण कर रहा है तो इसका क्या मतलब है? ब्राह्मणीकरण का अर्थ है अगर हम ब्राह्मणों की व्यवस्था को मान्यता देते हैं तो ऐसा माना जाएगा कि हमारा ब्राह्मणीकरण हो गया।

अगर हम ब्राह्मणी मूल्यों को स्विकार करते हैं, ब्राह्मणी व्यवस्था को स्विकार करते हैं, ब्राह्मणी प्रतीकों को स्विकार करते हैं, ब्राह्मणी वर्चस्व को स्विकार करते हैं तो हमारा ब्राह्मणीकरण हो गया। यदि हम ब्राह्मणों को नेतृत्व के तौर पर स्विकार करते हैं तो हमारा ब्राह्मणीकरण हुआ ऐसा कहा जाएगा। ब्राह्मण को विरोध करनेवाले, ब्राह्मणी मुल्यों का विरोध करनेवाले जो लोग हैं वे लोग जब ब्राह्मण का, ब्राह्मणी व्यवस्था का, ब्राह्मणी मूल्यों का समर्थन करते हैं तब उस समर्थन की प्रक्रिया को ब्राह्मणीकरण कहते हैं। इसे क्यों होता है? इससे ब्राह्मणों का विरोध करनेवाला व्यक्ति ब्राह्मणों का समर्थक बन जाता है।

जब वह ब्राह्मणों का समर्थक बनता है तब ब्राह्मणों की समस्या खत्म हो जाती है। विरोध और प्रतिरोध समाप्त होता है। केवल समाप्त ही नहीं होता बल्कि ब्राह्मणों का बोझ ढोने के लिए एक फौज तैयार हो जाती है और वह फौज अपना काम करने की बजाए ब्राह्मणों का काम करती है। ब्राह्मणों का काम करते

समय उसे गर्व महसूस होता है, गौरव महसूस होता है।

ब्राह्मणों की जो व्यवस्था है उस व्यवस्था को मूलनिवासियों पर थोपने का जो कार्यक्रम है उस कार्यक्रम को मैं ब्राह्मणीकरण मानता हूँ। क्योंकि ब्राह्मणों का जो धर्म है, ब्राह्मण कहते हैं कि वह धर्म है किन्तु हम कहते हैं कि वो एक षडयंत्र है। **ब्राह्मणों ने समाज व्यवस्था बनायी जिसे वे आदर्श समाज कहते हैं मगर वह आदर्श समाज नहीं बल्कि मूलनिवासियों को विभाजित करने का षडयंत्र है।**

वे वर्ण व्यवस्था बनाकर हमें विभाजित करते हैं फिर वर्ण व्यवस्था का विखंडन होकर जाति व्यवस्था बनती है। समाज चार टुकड़ों में विभाजित होने की बजाय चार हजार टुकड़ों में विभाजित हो जाता है और हमारे जितने टुकड़े होते हैं उतने ही प्रभावशाली ढंग से प्रतिकार करने की हमारी जो क्षमता है, वह कमजोर होती है। दुश्मन हमें गुलाम बनाना चाहता है, दबाना चाहता है। दुनिया में प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह एक वैज्ञानिक नियम है मगर शासक जाति के लोगों ने योजना बनायी कि हम क्रिया तो करेंगे किन्तु लोगों को प्रतिक्रिया करने लायक नहीं छोड़ेंगे।

इसलिए उन्होंने हमें हजारों जाति के टुकड़ों में विभाजित कर, जाति की उपजातियां बनाकर हमें प्रतिकारविहीन बना दिया। जब उपजाति बनाकर प्रतिकार विहीन बनाया जाता है तब कोई भी समूह अपने उपर थोपी जा रही गुलामी का प्रतिकार करनेलायक नहीं रहता। तब थोपी गई गुलामी मानने के अलावा उसके पास दूसरा कोई भी विकल्प शेष नहीं रहता।

### **चरित्र का विकृतिकरण**

यदि आपके द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलन को तोड़ना-मरोड़ना संभव नहीं हुआ तो हमारे ही कुछ लोगों को लालच दिखाकर, उन्हें झूठी प्रतिष्ठा देकर उनकी महत्वकांक्षाओं को लालच बताकर उन्हें अपना

प्रचारक बनाने का प्रयास किया जाता है। जब यह घटीत होता है तब स्वाभाविक रूप से इतिहास का विकृतिकरण होता है। वास्तविक इतिहास लोगों के सन्मुख रखने के बजाए झूठा इतिहास लोगों के सन्मुख रखा जाता है। यह सर्वविदित है कि ब्राह्मणी व्यवस्था का तथागत बुद्ध बहुत ज्यादा विरोध करते थे मगर बुद्ध को झुका पाना ब्राह्मणों के लिए आसान नहीं था, उन्हें तोड़ा जाना आसान नहीं था इसलिए बुद्ध को भगवान विष्णु का अवतार बताकर निगलने की कोशिश की गई। उनका ब्राह्मणीकरण करने का प्रयास हुआ।

आज संत तुकाराम महाराज के संबंध में लोगों के सामने जो चरित्र चित्रण प्रस्तुत किया जाता है उसमें तुकाराम महाराज ने अपना शूद्रत्व खामोशी से मान्य किया था, उन्होंने ब्राह्मणी व्यवस्था के खिलाफ कोई संघर्ष नहीं किया, उनके हिस्से में जो आया वहीं उन्होंने मान्य किया, इस तरह की बातें लोगों के सामने रखी जाती है। संत तुकाराम महाराज द्वारा व्यवस्था के विरोध में किया गया विद्रोह लोगों को पता न चल पायें, यह इसके पीछे उद्देश्य है।

तुकाराम महाराज का ब्राह्मणीकरण किया हुआ रूप यदि लोगों के सामने रखा जाए तो चूंकि लोगों को तुकाराम महाराज के प्रति आदर होने के कारण उनका बदला हुआ विकृत रूप लोगों को समझ में नहीं आएगा और उन्हें माननेवाले लोग विकृत स्वरूप को ही सच्चाई मान कर ब्राह्मणों के जाल में फँस कर ब्राह्मणी हितसंबंधों की रक्षा करने के लिए जान की बाजी लगाने के लिए भी तैयार होंगे। इस तरीके से तुकाराम महाराज के चरित्र को बहुजन समाज के सामने प्रस्तुत किया गया।

### **ब्राह्मणी कर्मकांड एवं मूल्यों का विरोध**

वास्तविक इतिहास देखा जाए तो हमें दिखायी देगा कि तुकाराम महाराज ने ब्राह्मणी व्यवस्था का एक भी मूल्य चिकित्सा किये बगैर 'जैसे थे' स्विकार नहीं किया। प्रत्येक ब्राह्मणी मूल्य पर उन्होंने आघात



किया। कर्मकांड में फँसा हुआ, वेदप्रामाण्य में फँसा हुआ, नई चिकित्सा करने का विरोध करने वाला, नया विचार ग्रहण करने की अनुमति न देनेवाला, शोषण के खिलाफ़ बोलने का विरोध करनेवाला धर्म तुकाराम महाराज ने पूरी तरह से नकारा था। 'काय बा करिशी सोवळे-ओवळे' ऐसा सवाल तुकाराम महाराज पूछते हैं। जिन्हें वेद पठन करने का अधिकार है, जिनका जनेऊँ संस्कार हुआ है, जो एक ऊँचे वर्ण में जन्मा है वह शुद्ध और अन्य सभी अशुद्ध, अपवित्र, उसका स्पर्श होने से व्यक्ति अपवित्र होगा, इस प्रकार की जो धारणा धर्म को आधार बनाकर निर्माण की गई है उसे तुकाराम महाराज ने बड़ी चुनौती दी है।

कुछ लोग कहते हैं कि तुकाराम महाराज ने योग साधना से अपना शरीर विघटित किया होगा इसलिए उनकी मृत्यु हुई। 'कोण आमच्या योग तपे करु जाणावे' अर्थात् योग और तपश्चर्या करना हमारे पिता को भी पता था क्या? ऐसा सवाल वें खड़ा करते हैं। 'वर्ण अभिमानाने कोण झाले पावन, ऐसा द्या सांगून मज पाशी', अर्थात् वर्ण का गर्व करने से कौन पावन हुआ, ऐसा सवाल पूछ कर उन्होंने वर्ण व्यवस्था पर ही आघात किया है।

### विद्रोही संत का ब्राह्मणीकरण

संत तुकाराम महाराज के जीवन चरित्र का, उनके उद्देश्य का, उनके इतिहास का ब्राह्मणीकरण तथा दूसरी तरफ़ उनके साहित्य का, अभंगों का, गाथाओं का ब्राह्मणीकरण करना, यह दो बातें ब्राह्मणीकरण करने की दिशा में की गईं। संत तुकाराम एवं उनके अभंगों का ब्राह्मणीकरण करने के लिये उनकी गाथाओं को डुबाने का आदेश दिया गया और डुबाने के पश्चात ब्राह्मणों ने यह सोचा कि गाथाएँ डुबाने के कारण लोग मूल गाथाएँ और झूठी गाथाओं में फर्क नहीं कर सकते। यही से अभंगों में झूठी बातें घुसाने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई होगी। संत तुकाराम महाराज द्वारा रचित अभंग प्रबोधन के हथियार हैं। प्रबोधन से समाज में

जागृति होती है।

समाज में दोस्त और दुश्मन की पहचान होती है। षडयंत्रकारियों का पता चलता है। तुकाराम महाराज का ब्राह्मणीकरण करने के लिए कहा गया कि तुकाराम महाराज सदेह वैकुंठ को गये। 'वैकुंठ' यह मोक्ष इस शब्द का वैकल्पिक शब्द है। किंतु तुकाराम महाराज अपने अभंगों में मोक्ष को विरोध करते हुए दिखायी देते हैं। जो आदमी स्वयं मोक्ष को लात मारता हो, वह वैकुंठ को कैसे जा सकता है?

मोक्ष क्या है? जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होने की संकल्पना ही मोक्ष है। मगर तुकाराम महाराज कहते हैं मैं बार-बार जन्म लेना चाहता हूँ। इसका मतलब वे वैकुंठ या मोक्ष जैसी किसी भी संकल्पना से सहमत नहीं है। वैकुंठ यह भी ब्राह्मणी संकल्पना है।

इस संकल्पना के माध्यम से वारकरी सम्प्रदाय में ऐसा प्रचार किया गया कि तुकाराम महाराज ने वैकुंठ में जाकर मोक्ष की संकल्पना को मान्यता दी है। इस तरह का संदेश देकर तुकाराम महाराज का ब्राह्मणीकरण उनकी स्वेच्छा से हुआ, इस प्रकार का प्रचार होता हुआ दिखायी देता है। उनके अभंग में 'पायरीने वागा' इस प्रकार का शब्द प्रयोग मिलता है, वह शुद्ध रूप से प्रक्षिप्त है। 'पायरीने वागा' यह शब्द क्रमिक असमानता को सूचित करता है। किंतु तुकाराम महाराज ब्राह्मणों के किसी भी मूल्य तथा वर्ण व्यवस्था को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं हैं। फिर वह आदमी 'आपण पायरीनिं वागलं पाहिजे' (हमें अपनी सीमा में रहना चाहिए) इस प्रकार का अभंग कैसे लिख सकता है? अर्थात् यह प्रक्षिप्त अभंग है।

बौद्धिक ईमानदारी किसे कहते हैं? जो-जो बुद्धि को ठीक लगता है, तर्क और दलिल की कसौटी पर खरा उतरता है, तर्क के आधार पर टिकनेवाली बात है वह बौद्धिक ईमानदारी है। यह बौद्धिक ईमानदारी तुकाराम महाराज के अभंगों में दिखायी देती है।

यह परंपरा मूलतः तथागत बुद्ध की है। जो-जो

तर्क के आधार पर टिक पाएगा वही मान्य करना, जो नहीं पटेगा उसे अमान्य करना, यह परंपरा तथागत बुद्ध ने चलायी, संत तुकाराम ने चलायी। बहुतांश संतों का जन्म शूद्र जाति में ही हुआ है। इन संतों ने जो आन्दोलन चलाया, उसे ब्राह्मण 'भक्ति आन्दोलन' नाम देते हैं। संतों के आन्दोलन को यदि आप भक्ति आन्दोलन कहोगे तो आप ब्राह्मणों के जाल में फँस जाओगे।

भक्ति के संबंध में बाबासाहब डा. अम्बेडकर कहते हैं कि 'भक्ति के आवरण से इन्सानीयत साबित नहीं होती। क्योंकि इन्सानीयत यह स्वयंसिद्ध मूल्य है।' मूलनिवासी संतों द्वारा चलाये गये सभी आन्दोलन यहाँ की ब्राह्मणी व्यवस्था के खिलाफ किया गया विद्रोह है। इन आन्दोलनों को निगलने के लिए इन्हें भक्ति का स्वरूप प्रदान किया गया। भक्ति करोगे तो आप को मुक्ति मिलेगी, ऐसा बताकर ब्राह्मणों ने संत तुकाराम महाराज की टाल कुँटनेवाली प्रतिमा महाराष्ट्र में निर्माण की। ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा है चमत्कार।

चमत्कार की कथाएँ, दैववाद की कथाएँ, रिद्धी-सिद्धी की कथाएँ ब्राह्मणों द्वारा बतायी जाती है। ब्राह्मण कहते हैं कि तुकाराम महाराज को रिद्धी-सिद्धी के संबंध में कहते हैं कि रिद्धी-सिद्धी हासिल करनेवाला व्यक्ति नर्क में जाता है। तुकाराम महाराज रिद्धी-सिद्धी प्राप्त करनेवाले व्यक्ति थे इस प्रकार की समझ

बहुजनों के वारकरी समुदाय के लोगों में दृढ़ है। इस समझ की वजह से ही तुकाराम महाराज का योजनाबद्ध तरीके से इस्तेमाल होता हुआ हमें दिखायी देता है।

जो तुकाराम महाराज यह कहते हैं कि मेरा किसी भी चमत्कार पर विश्वास नहीं है, मैं कोई भभूति नहीं देता, उनका चरित्र चमत्कार में रचा गया। यह चमत्कार कथा-कीर्तनों के माध्यम से लोगों को बताये गये। आज समरसता, सामंजस्य, समन्वय, सर्वजनवाद, आदि प्रकार की संकल्पनाएँ रखी जा रही है, वह समन्वय का बुरखा आन्दोलन को तोड़ने के लिए लिया जा रहा है। भूतकाल में ब्राह्मणी व्यवस्था के खिलाफ हुए संघर्ष को दबाकर रखना, जिन कारणों से संघर्ष किया गया उसके कारणों को दबाकर रखने का प्रयास ब्राह्मणों के माध्यम से हो रहा है।

संत तुकाराम महाराज के चरित्र का, उनके इतिहास का जो विकृतिकरण अर्थात् ब्राह्मणीकरण किया गया है उससे मूलनिवासी बहुजनों का ब्राह्मणीकरण करना ब्राह्मणों को आसान हुआ है। समाज में मान्यता प्राप्त लोगों का यदि ब्राह्मणीकरण किया जाए तो उन्हें माननेवाले लोगों का ब्राह्मणीकरण करना बहुत आसान होता है। ब्राह्मणों को शीर्ष स्थान पर रखकर अन्य लोगों का अपनी राजनीति के लिए इस्तेमाल किया जाता है। अपनी काली करतूतें पूरी करने के लिए ब्राह्मणों ने संत तुकाराम महाराज का ब्राह्मणीकरण किया है।

## धर्मांतरण की घोषणा

-रावसाहेब कसबे

(अनु.उषा वैरागकर आठले)

बीसवीं सदी के मध्य में डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर जैसे वैज्ञानिक दृष्टि-संपन्न प्रगतिशील नेता ने भारत में जो बुद्ध-धम्म-चक्र प्रवर्तन किया, उसे समझने के लिए उपर्युक्त चर्चा अत्यंत आवश्यक थी। अगर डा. अम्बेडकर कोई धर्म-गुरु होते, तो इस धर्मांतरण पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं थी, परंतु डा. बाबासाहेब अम्बेडकर देश के एक महान राजनीतिक नेता थे। सन् १९४७ में देश में संपन्न हुए महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन में अम्बेडकर की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में संविधान निर्माण द्वारा नया प्रशासनिक ढांचा स्थापित करने जैसे महत्वपूर्ण काम में वे अग्रणी रहे हैं। इस प्रकार का एक वैज्ञानिक दृष्टि-संपन्न परिवर्तनकारी आधुनिक विचारक जब दीर्घ चिंतन के बाद धर्मांतरण जैसा कदम उठाता है, तब उसके इस प्रयोग को वैज्ञानिक दृष्टि-संपन्न एवं प्रगतिशील कहलाने वाले लोगों द्वारा नजरअंदाज किया जाना अक्षम्य माना जाना चाहिए। उनके इस प्रयोग को ठीक से समझने पर परिवर्तनवादी आंदोलन के गतिरोध एवं दलित-आंदोलन की कुंठाओं का वास्तविक स्वरूप समझने में मदद मिलेगी। किसी भी समस्या का समुचित ज्ञान होना, उस समस्या को आधे से ज्यादा सुलझाने का संकेत होता है, इसलिए धर्मांतरण संबंधी आंबेडकर के दृष्टिकोण को विस्तार से समझना आवश्यक है।

“दुर्भाग्यवश मैंने हिंदू धर्म में जन्म लिया है, परंतु मैं हिंदू कहलाते हुए मरना नहीं चाहता” इस परिषद में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि “अस्पृश्यों को हिंदू धर्म का त्याग कर देना चाहिए तथा जिस धर्म में सामाजिक और धार्मिक समानता होगी, उसे स्वीकार करना चाहिए,”

डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ने १३ अक्टूबर, १९३५ को नासिक जिले के येवला गांव में आयोजित अस्पृश्य-वर्ग की परिषद में धर्मांतरण की अधिकृत घोषणा की।

पिछले दस वर्षों से चलने वाले अस्पृश्य-आंदोलन का विश्लेषण करने एवं मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के परिप्रेक्ष्य में अपनी भूमिका तय करने के उद्देश्य से इस परिषद का आयोजन हुआ था। इस परिषद में बाबासाहेब ने कहा था, “दुर्भाग्यवश मैंने हिंदू धर्म में जन्म लिया है, परंतु मैं हिंदू कहलाते हुए मरना नहीं चाहता” इस परिषद में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि “अस्पृश्यों को हिंदू धर्म का त्याग कर देना

चाहिए तथा जिस धर्म में सामाजिक और धार्मिक समानता होगी, उसे स्वीकार करना चाहिए,” महाड़ और नासिक में संपन्न हुए अस्पृश्य आंदोलन में, सवर्णों द्वारा किए गए असहयोग से बाबासाहेब बेचैन थे। इसी समय उनके व्यक्तिगत जीवन में भी उन्हें अनेक आघात झेलने पड़े। इस घोषण के पांच माह पूर्व ही उनकी पहली पत्नी की मृत्यु से उन्होंने बहुत बड़ा आघात पहुंचा था। बाबासाहेब ने अपनी पत्नी की मृत्यु से पहले मुंडन कर कफनी धारण कर ली थी। जून १९३५ में, वे शासकीय विधि महाविद्यालय के प्राचार्य बनने के कारण शासकीय सेवा में आ गए थे। नए संविधान के अनुसार परिषद के चुनाव संपन्न होने में कुछ समय शेष था। इसी कालावधि में येवला में परिषद का आयोजन किया गया था।

धर्मांतरण की घोषणा के उपरांत, धर्मांतरण पर विचार करने के लिए दिनांक १२ एवं १३ जनवरी १९३६ को प्रो. एन. शिवराज की अध्यक्षता में पुणे में एक सभा आयोजित की गई। प्रो.एन.शिवराज दक्षिण भारत के एक महत्त्वपूर्ण अस्पृश्य नेता थे। इस परिषद में उन्होंने कहा, “अस्पृश्यता के पंजे से छूटने का मुझे एक ही रास्ता नजर आता है, हिंदू धर्म का त्याग कर किसी दूसरे प्रचलित धर्म को अपनाने के बदले या तो किसी नए धर्म की स्थापना की जाए, या फिर आर्यों द्वारा भारत में हिंदू धर्म के रीति-रिवाज लागू करने से पहले के प्राचीन आदि-द्रविड़ धर्म को पुनर्जीवित किया जाए।” इसी परिषद में डॉ. पुरुषोत्तम सोलंकी ने कहा था, “अस्पृश्यों को न तो वेद चाहिए, न गीता; उन्हें न तो शंकराचार्य की जरूरत है, न ही किसी संत की; उन्हें किसी देवदूत के स्थान पर सिर्फ आंबेडकर की आवश्यकता है।” इस परिषद में अस्पृश्य-वर्ग की कुछ जातियों ने धर्मांतरण आंदोलन का विरोध किया था।

डॉ. बाबासाहब आंबेडकर ने ३० एवं ३१ मई, १९३६ को मुंबई में सिर्फ महार समाज की एक बैठक आयोजित की। इस बैठक के लिए उन्होंने जो भाषण तैयार किया था, उसमें उनके धर्मांतरण-संबंधी विचार स्पष्ट प्रतिबिंबित होते हैं।” यद्यपि डॉ. आंबेडकर समूचे अस्पृश्य-वर्ग के लिए काम कर रहे थे, फिर भी उन्होंने सिर्फ महार-समाज की बैठक इसलिए बुलाई थी, क्योंकि वे धर्मांतरण के मामले को, हिंदू-समाज के कुछ सामाजिक अधिकार मांगने तक ही सीमित नहीं मानते थे। इस बैठक में अस्पृश्यों के जीवन तथा उनके जीवन-यापन की भावी रूपरेखा पर चर्चा की गई। आंबेडकर का मत था कि इन सवालियों पर हरेक अस्पृश्य जाति को खुल कर विचार प्रकट करना चाहिए। इस बैठक का उद्देश्य धर्मांतरण के पक्ष में जन-मत-संग्रह करने की कोशिश करना भी था। इसीलिए एक साथ समस्त अस्पृश्य जातियों की परिषद आयोजित

करने के स्थान पर, प्रत्येक जाति-समूह की पृथक बैठक आयोजित करने से उनका जन-मत जानने एवं निश्चित निष्कर्ष निकालने में सहायता मिलती। यह सभा सिर्फ महार-जाति के लोगों की होने के बावजूद, न केवल महार जाति के लोग बल्कि अन्य जाति के लोग भी धर्मांतरण करने या न करने के लिए स्वतंत्र थे। इस बैठक में बाबासाहब ने धर्मांतरण के **भौतिक** और **आध्यात्मिक** कारणों पर प्रकाश डाला। उनके भाषण का केंद्रीय सार यही था कि मनुष्य, मनुष्य के लिए होता है। आंबेडकर ने यह महसूस किया था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आने के बाद भारतीय समाज का जो संकुचित विकास हुआ था, उसके फलस्वरूप अस्पृश्य-वर्ग अपनी जाति छिपाने का प्रयत्न करने लगा था। उन्होंने इस बैठक में पूछा था “जाति के बारे में पूछे जाने पर आप लोग हरिजन या चोखा मेला आदि बताते हैं, महार जाति बताना टाल जाते हैं। **नामांतरण की जरूरत के बिना किसी को भी नामांतरण नहीं करना चाहिए।**” इसी भाषण में बाबासाहब ने पूछा, “आपके व्यवहार से साफ झलक रहा है कि आप लोगों को नामांतरण की आवश्यकता महसूस हो रही है। यदि **नामांतरण आवश्यक लग रहा है तो धर्मांतरण में ही क्या आपत्ति है?** धर्मांतरण भी एक प्रकार का नामांतरण ही तो है। धर्मांतरण के माध्यम से होने वाले नामांतरण से आप लोगों को ज्यादा फायदा होगा।” इस भाषण में बाबासाहब धर्मांतरण का आग्रह कर रहे थे।

### धर्मांतरण के भौतिक और आध्यात्मिक कारण

धर्मांतरण के अन्य कारणों की चर्चा करने से पहले आध्यात्मिक कारणों पर चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि ‘आध्यात्मिक’ शब्द भ्रामक है। बाबासाहब के मतानुसार, धर्म की आवश्यकता समाज की स्थिरता के लिए होती है। उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा था कि “जो समूची प्रजा को धारण करता है, वही धर्म है।” वे धर्म की यही व्याख्या स्वीकार करते

थे। बाबासाहब कहते थे कि **“सामाजिक स्थिरता के लिए डाले गए बंधन ही धर्म कहलाते हैं।”** वे यह भी कहते थे कि धर्म के बंधनों को लागू करने के जो उद्देश्य होते हैं, उन पर ही धर्म का वास्तविक स्वरूप निर्भर करता है, उनके स्वरूप के बारे में समाजशास्त्रियों के तीन प्रकार के मतों को बाबासाहब उद्धृत करते हैं। पहला मत है, “समाज-स्थापना का उद्देश्य व्यक्तिमात्र के सुख की प्राप्ति के लिये होता है। दूसरा मत है, के मूलभूत गुणों और क्षमताओं का विकास पूर्णावस्था तक होने में मदद प्रदान करना है।” और तीसरा मत है, “समाज-स्थापना का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की प्रगति या सुख न हो कर, एक आदर्श समाज का निर्माण करना है।” इन तीनों अवधारणाओं से पृथक हिंदू धर्म की अवधारणा है। हिंदू धर्म में व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। हिंदू धर्म की अवधारणा वर्गीय आधार पर टिकी हुई है। इसलिए बाबासाहब कहते हैं कि हिंदू धर्म में एक वर्ग के दूसरे वर्ग के प्रति-व्यवहार-संबंधी बंधन हैं, परंतु हिंदू धर्म में यह शिक्षा नहीं दी जाती कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से कैसा व्यवहार करना चाहिए। जिस धर्म में व्यक्ति को महत्त्व नहीं दिया जाता, उस धर्म को मैं स्वीकार नहीं कर सकता। व्यक्तिजीवन के लिए समाज आवश्यक होता है, परंतु धर्म का अंतिम उद्देश्य महज समाज की स्थिरता नहीं, बल्कि व्यक्ति का विकास होना चाहिए, मेरी यही धारणा है कि **“व्यक्ति-जीवन के लिए समाज आवश्यक होता है, परंतु धर्म का अंतिम उद्देश्य महज समाज की स्थिरता नहीं, बल्कि व्यक्ति का विकास होना चाहिए। मेरी यही धारणा है कि व्यक्ति समाज की एक इकाई है, परंतु उसका और समाज का संबंध शरीर और उसके अंग या गाड़ी और चक्कों जैसा नहीं हो सकता। जिन्हें जब चाहे तब अलग किया जा सकता हो।”** उनके मतानुसार, “व्यक्ति के विकास के लिए तीन चीजों की आवश्यकता होती है-- सहानुभूति, समानता और

स्वतंत्रता।” बैठक में उपस्थित श्रोताओं से उन्होंने पूछा कि हिंदू धर्म में रह कर क्या इनमें से कोई भी एक चीज आपको उपलब्ध है? इसका उत्तर ‘नहीं’ में ही होगा। **बाबासाहब ने ‘आध्यात्मिक’ शब्द को यहां सिर्फ ‘व्यक्ति-विकास’ तक ही सीमित माना है।**

आध्यात्मिक कारणों के साथ-साथ बाबासाहब ने धर्मांतरण के भौतिक कारणों की चर्चा भी की है। अस्पृश्यों को अपने भौतिक जीवन में किस तरह की मानहानि झेलनी पड़ती है, इसके अनेक उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किए हैं-- अस्पृश्य बच्चों को शाला में सवर्ण बच्चों द्वारा अकारण पीटा जाता है, उनके द्वारा नए कपड़े पहनने पर मार-पीट, तांबे-पीतल के बर्तनों का उपयोग किए जाने पर मार-पीट, मरे हुए जानवर को खींचने से इंकार करने पर मार-पीट, मृत जानवरों का मांस न खाने पर मार-पीट, शौच जाते समय पानी ले जाने पर उन्हें तंग किया जाना आदि जैसी यातनाओं की लंबी-चौड़ी सूची देकर, उन्होंने वर्ग-संघर्ष को स्पष्ट करते हुए बताया कि **“किसी भी प्रकार के संघर्ष में जिसके हाथ में शक्ति होती है, उसकी ही विजय होती है।”** इसलिए “सबसे पहले शक्ति अर्जित करो।” इस देश में मुसलमानों का अस्पृश्यों जैसा शोषण नहीं होता, क्योंकि गांव के एक-दो मुसलमानों के पीछे समूचे देश के मुसलमानों की शक्ति संगठित होती है, इस बात का वे अहसास दिला देते हैं। अस्पृश्य मुसलमानों की तरह शक्ति-संपन्न कैसे बना जा सकता है? हिंदुओं ने बरसों से उनका शोषण किया है अतः उन्हें यह शक्ति किसी दूसरे तरीके से अर्जित करनी पड़ेगी। बाबासाहब को विश्वास था कि यह शक्ति अस्पृश्यों में धर्मांतरण के द्वारा ही पैदा हो सकती है। हिंदू महासभा के प्रमुख नेता डॉ. मुंजे ने काफी कोशिश की थी कि अस्पृश्य लोग सिख धर्म स्वीकार कर लें। जब डॉ. मुंजे ने इस संबंध में एक गुप्त टिप्पणी लिख कर पारिया जाति के अस्पृश्य नेता एम.सी.राजा के पास भेजी, तब इसे पढ़ कर वे

आगबबूला हो गए, उन्होंने डॉ. मुंजे को जवाब देते हुए लिखा था-- “हिंदू महासभा के अध्यक्ष के रूप में आप सबसे पहले अस्पृश्य-वर्ग की आध्यात्मिक उन्नति के लिए कोशिश करें, बाद में सामाजिक और आर्थिक उन्नति का विचार करें और सबसे अंत में राजनीतिक विचार करें।” एम.सी.राजा दृढ़तापूर्वक कहते थे कि “मैं हिंदू के रूप में ही जिऊंगा और हिंदू के रूप में ही मरूंगा।” राजा के इस कथन पर तीखी टिप्पणी करते हुए आंबेडकर ने कहा था, “मैंने सुना है कि एम.सी.राजा हिंदू के ही रूप में जीने-

मरने की बात कर रहे हैं। उससे परिस्थिति में कोई खास बदलाव आने वाला नहीं है। राजा ‘पारिया’ ही रहेंगे और ‘पारिया’ जाति में ही मरेंगे। धर्मांतरण में सिर्फ आध्यात्मिक परिवर्तन ही होना चाहिए, राजा की यह बात मुझे सरासर बेवकूफी लगती है। अगर राजा अपनी आध्यात्मिक संतुष्टि के लिए हिंदू धर्म में ही रहना चाहते हैं और वे इस आध्यात्मिक संतुष्टि के अलावा और कुछ नहीं चाहते तो हिंदू के रूप में जीने और मरने के लिए विधान-मंडल जैसी भौतिक सुविधाएं क्यों चाहते हैं?” बाबासाहब के इन तर्कों से यह स्पष्ट होता है कि ‘आध्यात्मिक’ शब्द से उनका क्या तात्पर्य था।

### सामाजिक और धार्मिक क्रांति की नींव पर ही राजनीतिक क्रांति संभव है

डॉ. बाबासाहब आंबेडकर के धर्मांतरण-संबंधी विचारों का विश्लेषण कई प्रकार से किया जा सकता है। उनके धर्मांतरण-संबंधी विचारों से राजनीतिक पहलू को नहीं हटाया जा सकता। अगर हमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आंबेडकर ने, धर्मांतरण को भारतीय समाज में राजनीतिक जागृति के सचेतन प्रयास की

महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मान कर शुरु किया था, तो धर्मांतरण के लिए जिम्मेदार मूल कारकों, कारणों और प्रेरकों

को हम भूल जाएंगे और अनेक प्रश्न अनुत्तरित रह जाएंगे। सन् १९४७ में हमारे देश में होने वाला राजनीतिक परिवर्तन बहुत-कुछ सीमित अर्थ में राजनीतिक क्रांति जैसा प्रतीत होता था। इस परिवर्तन को एक निश्चित दिशा देने की कोशिश बाबासाहब जी-जान से कर रहे थे। इन कोशिशों के

दौरान ही बाबासाहब को यह साफ तौर पर महसूस हुआ कि यह परिवर्तन पचाने की क्षमता भारतीय समाज में नहीं है। इसलिए इस परिवर्तन का, राजनीतिक क्रांति के स्थान पर महज सत्ता-परिवर्तन में रूपांतरित होना अपरिहार्य था। भारत की विशिष्ट समाज-व्यवस्था और आम आदमी के धर्म-केंद्रित स्वभाव के कारण इस सत्ता-परिवर्तन को भारतीय जनता किस सीमा तक सम्हाल पाती है और नए भारत का निर्माण किस तरह कर पाती है, यह चिंता का प्रमुख विषय था। आंबेडकर ने सन् १९३६ में कहा था कि “दुनिया का इतिहास बताता है कि राजनीतिक क्रांति हमेशा सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति की पूर्वपीठिका पर ही संपन्न होती है।” चाहे वह यूरोप का राजनीतिक स्वतंत्रता आंदोलन हो, मध्य-पूर्व का इस्लामिक सत्ता-केंद्रित आंदोलन हो या फिर भारत में चंद्रगुप्त का शासन हो। इन आंदोलनों की पृष्ठभूमि में क्रमशः मार्टिन लूथर, कमाल पाशा और भगवान बुद्ध की सामाजिक-धार्मिक क्रांति दिखाई देती है। सन् १९४७ में मिली आजादी के समय भारतीय समाज पर पारंपारिक हिंदू धार्मिक रुढ़ियों का प्रभाव था। लोग परंपराओं से

अगर हमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आंबेडकर ने, धर्मांतरण को भारतीय समाज में राजनीतिक जागृति के सचेतन प्रयास की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मान कर शुरु किया था, तो धर्मांतरण के लिए जिम्मेदार मूल कारकों, कारणों और प्रेरकों को हम भूल जाएंगे और अनेक प्रश्न अनुत्तरित रह जाएंगे।

बंधे हुए थे। डॉ. आंबेडकर जिन राजनीतिक मूल्यों को भारतीय संविधान के माध्यम से, हिंदू कोड बिल के माध्यम से भारतीय जनता के सामने रखना चाहते थे, उन मूल्यों को स्वीकार करने की इच्छा शक्ति भारतीय समाज में नहीं थी। इसलिए आंबेडकर सामाजिक और धार्मिक क्रांति की आवश्यकता महसूस करने लगे थे। मार्क्स और लेनिन ने धर्म-विश्लेषण को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना था, जिसके कारण सोवियत संघ में चेतना का प्रसार हुआ, तोलस्तोय, मैक्सिम गोर्की जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने चेतना-संपन्न साहित्य का सृजन किया, साथ ही रूसी क्रांति-पूर्व के अनेक विचारकों ने सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण की पृष्ठभूमि रची थी, इन सभी संदर्भों के बिना क्या कभी रूसी क्रांति की समीक्षा करना संभव हो सकता है? इनके बिना क्रांति के कट्टर पक्षधर या विरोधी ही बात कर सकते हैं।

आंबेडकर जिस प्रकार की सामाजिक और धार्मिक क्रांति चाहते थे, क्या भारतीय समाज में भी उनके कोई ऐतिहासिक संदर्भ पाए जा सकते थे? यदि होंगे, तो उनके परिणामों की समीक्षा करना भी आंबेडकर के धर्मांतरण की समीक्षा का ही एक महत्वपूर्ण भाग माना जाना चाहिए। परिवर्तन दुनिया का स्थाई भाव है। धर्म और उसकी समाज-व्यवस्था के नियम, परिस्थिति की चुनौती स्वीकार करने लायक परिवर्तनशील होने चाहिए। **परंतु भारत में धर्म को यथास्थिति में रखने, इतिहास की ओर मोड़ने और प्राचीन धर्म को शाश्वत और शुद्ध रखने की ही होड़ मची हुई है। ऐसा क्यों है? इस सवाल का जवाब यहां की भौतिक परिस्थिति का विश्लेषण करने से ही हमें मिल सकता है।** भारत में दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय, न्यायाधीश रानाडे, आगरकर और रामकृष्ण मिशन को भी मुंह की खानी पड़ी। चार्वाक, बुद्ध, महावीर की कोशिशों पर अवैदिक का ठप्पा लगा कर उन्हें नकार दिया गया। महात्मा फुले, राजर्षि

शाहू को धर्म विरोधी कह कर उनकी उपेक्षा की गई। आंबेडकर इन सभी उपेक्षितों का महत्त्व समझते थे। **आंबेडकर चाहते थे वॉल्टेयर को। हिंदू धर्म में किसी वॉल्टेयर के पैदा न होने से वे दुखी थे।** सन् १८८५ से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मिल कर सामाजिक परिषद भी समाज सुधार का काम कर रही थी। मगर जान-बूझ कर इनके परस्पर-संबंधों को समाप्त किया गया, जिसके फलस्वरूप सन् १९३२ में भारतीय जनता को 'स्वतंत्रता के घोषण पत्र' के स्थान पर 'जातीय न्याय' प्रदान किया गया। आंबेडकर ने अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए लिखा था कि सामाजिक सुधार-दलों की पराजय का, न्याय-देवता ने इस तरह बदला चुकाया है। यहां जाति-धर्म की सीमाओं से ऊपर उठे हुए राष्ट्रीय विचारों से प्रेरित व्यक्ति का खरापन आंबेडकर में देखा जा सकता है।

### हिंदू धर्म का स्वरूप

बाबासाहब आंबेडकर के धर्मांतरण की समीक्षा करने का एक अत्याधिक सरल, परंतु गलत तरीका प्रचलित है। आंबेडकर अस्पृश्य थे। आंबेडकर और उनके समाज को हिंदू धर्म की रुढ़ियों के कारण पशुओं जैसा जीवन व्यतीत करना पड़ा, इसलिए वे हिंदू धर्म से नाराज थे। धर्मांतरण के माध्यम से उन्होंने अपनी नाराजगी को व्यक्त किया, इस तरह का सरलीकृत समीकरण प्रस्तुत किया जाता है, जो गलत है, आंबेडकर का हिंदू धर्म-विरोध बहुआयामी था। इसका एक पहलू यह था कि सामाजिक व्यवस्था कायम करने का जो महत्वपूर्ण काम धर्म को करना होता है, हिंदू धर्म ने 'धर्म' के रूप में वह नहीं किया। जिस तरह ईसाई धर्म का ईसाई समाज, इस्लाम धर्म का मुसलमान समाज है, क्या हिंदू समाज भी उसी स्वरूप का है? इस सवाल का जवाब 'नहीं' में है। आंबेडकर के अनुसार हिंदू धर्म 'हिंदू समाज' का निर्माण करने में असमर्थ रहा, क्योंकि इसके अंतर्गत विभिन्न जातियों-उपजातियों के समूह शामिल हैं। यह सभी समूह अपना-

अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए और बचाए रखने के प्रति बहुत सचेत हैं। ये जातियों और उपजातियों के समूह एक समाज तो क्या, एक 'संघ' का निर्माण तक नहीं कर सकते। सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से हिंदू धर्म का यही विषम स्वरूप दिखाई देता है। हिंदू धर्म के प्रति उनका दूसरा आरोप यह था कि 'चातुर्वर्ण्य पद्धति' वेदकालीन समय में शायद उपयुक्त रही हो, परंतु बाद में इस पद्धति ने भारत को तोड़ा ही है, इसलिए वह अपने दुश्मन के खिलाफ कभी भी एक हो कर नहीं लड़ पाया। इसकी पराजय और परतंत्रता का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है। आंबेडकर ने कहा था, **“हिंदू धर्म और उसकी समाज-व्यवस्था ने न केवल अनगिनत शूद्रों का जीवन बरबाद किया वरन् समूचे भारत के जीवन को मिट्टी में मिला दिया।”** आंबेडकर के इन विचारों का अभिप्राय यह है कि यदि भारतीय समाज क्रांति करने का इच्छुक है तो इसे इस क्रांति के लायक बनने की क्षमता भी पैदा करनी होगी। यह क्षमता संतुलित सामाजिक व्यवस्था स्थापित किए बगैर, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति को प्रोत्साहन दिए बगैर प्राप्त नहीं की जा सकती। सबसे पहले भारत को एक राष्ट्र के रूप में स्थापित किए जाने की आवश्यकता है। यदि उपर्युक्त गलत दृष्टि से आंबेडकर के कार्यों एवं विचारों का विश्लेषण किया जाता रहा तो राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार करने के उद्देश्य से किए गए एक महान प्रयोग की प्रेरणा से भावी पीढ़ियां वंचित रह जाएंगी। आंबेडकर ने यह दावा किया था कि भारतीय समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से हिंदू धर्म अपर्याप्त और अपूर्ण सिद्ध हुआ है। समूची दुनिया को अध्यात्म का संदेश देने वाले एक महान धर्म के रूप में हिंदू धर्म को सराहने वाले लोग आज भी बहुतायत में हैं। परंतु यह महान धर्म आज इतना काल-बाह्य क्यों होता जा रहा है, इसका रहस्य वे लोग भी नहीं सुलझा पा रहे हैं। जो व्यक्ति इस रहस्य

को सुलझाने की इच्छा रखता है, उसे हिंदू धर्म की ओर उसकी समाज-व्यवस्था की समीक्षा करनी पड़ेगी। समीक्षा करने के लिए समीक्षक के मन में शंकाएं उठना अवश्यभावी है। ये शंकाएं मानव-जाति के मन में उठने वाले सवालियों की श्रृंखला होती हैं। इन सवालियों का सामना न करना पड़े इसलिए भगवद्गीता में ऐसे शंकालुओं को शाप दिया गया है--

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

जिसके स्वयं के पास ज्ञान नहीं है, श्रद्धा भी नहीं है, ऐसा शंकालु व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है। ऐसे आशंकी व्यक्ति के लिए न तो इहलोक है, न परलोक है और न ही सुख है। इस अवस्था में हिंदू धर्म में वॉल्टेयर का जन्म कैसे हो सकता था? **भारतीय समाज की दुर्दशा का विश्लेषण बिना धर्म-विश्लेषण के नहीं किया जा सकता।**

समाज में वर्गों का निर्माण होने से नीतियां भी वर्गीय बन जाती हैं। धर्म उच्च वर्ग के हित-संबंधों का पक्ष-पोषण करता है। उच्च वर्ग फायदा होने वाले बदलावों को स्वीकार करता है और उन्हें अड़चन में डालने वाले बहुजन-समाज की यथास्थिति में रख कर परिवर्तन-विरोधी बना दिया जाता है। जहां एक ओर ज्ञान को उच्च वर्ग की जन्मजात देन बताकर उच्च वर्ग और उसके ज्ञान का गौरव किया जाता है, वहीं दूसरी ओर निम्न वर्ग को ज्ञान-प्राप्ति के बदले श्रद्धावान बने रहने के लिए प्रेरित किया जाता है। धर्म और व्यवस्था के प्रति निम्न वर्ग के मन में कोई शंका पैदा न हो, इसलिए दुनिया के सभी धर्म और धर्म-पुरुषों द्वारा अतिरिक्त सावधानी बरती जाती रही है। धर्म का यह ऐतिहासिक कार्य अन्य धर्मों की तरह हिंदू धर्म ने भी किया। **धर्म को भौतिक जीवन की तरह गतिशील होना चाहिए, परंतु संबंधीत लोग उसे उसके मूल स्वरूप में शुद्ध बनाए रखने की जी-तोड़ कोशिश करते हैं। वे बदलाव नहीं चाहते।** बदलाव चाहने



वाले आंदोलनों के विरुद्ध उनकी पूरी पलटन खड़ी हो जाती है, जिसके फलस्वरूप बदलाव चाहने वाले या तो निरुपाय कर दिए जाते हैं या उन्हें उनकी मूल भूमिका त्यागनी पड़ती है। हिंदू धर्म के सभी पंथों ने बुद्ध सहित सभी अवैदिकों को इसी तरह निरुपाय कर दिया है। इसीलिए हिंदू धर्म महज़ 'यह करो या यह मत करो' जैसी ईश्वरीय आज्ञाओं का एक समुच्चय मात्र बन कर रह गया है। हिंदू धर्म का 'आज्ञाओं के पिटारे' का रूप बाबासाहब आंबेडकर के मन की आदर्श धर्म-कल्पना के एकदम विपरीत था। प्रचलित हिंदू धर्म ने, खासकर स्मृतियों ने वास्तविक धार्मिक अवधारणाओं को इतिहास की कब्र में दफन कर दिया। अपने हित-संबंधों के निर्वाह के अनुसार, कभी चातुर्वर्ण्य, तो कभी दो वर्णों का समर्थन किया जाता था। जब इच्छा हो, तब स्त्रियों और शूद्रों को पाप-योनि कहा जाता था और जब आवश्यकता हो, जब इच्छा हो, तब उनके विकास की बात की जाती थी। इस तरह हिंदू धर्म ने स्वर्गीय स्वार्थों का समर्थन किया।

हिंदू धर्म की रुढ़ियों ने बहुजन समाज को अनेक पीड़ादायक बंधनों में बांधा था। स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ब्राह्मण-वर्ग मनचाहे रास्तों का सहारा लेता था। ये रास्ते इतने अनैतिक और क्रूर होते थे कि उनके कारण समूचा समाज विकृत हो गया था। उच्च वर्ग की प्रतिष्ठा के ढकोसलों के कारण शूद्रों को अपमानित जीवन जीना पड़ता था। स्त्रियों के बारे में घृणा की भावना पैदा की गई थी, जिससे उनका जीवन जानवरों से बदतर होता जा रहा था। स्वतंत्र विचारों के लिए कहीं कोई माहौल नहीं था। एक ओर उच्च वर्ग में ऐयाशी बढ़ती जा रही थी। उनकी शारीरिक और मानसिक वासनाओं में वृद्धि होती जा रही थी, तो दूसरी ओर निम्न वर्ग रुढ़ि-परंपराओं और धर्माज्ञाओं के कोल्हू में पेरा जा रहा था। इसे रोकने या बदलने की इच्छा किसी में दिखाई नहीं देती थी। उपनिषद बता रहे थे--

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

जब तक शारीरिक और मानसिक वासनाएं रहेंगी, तब तक ब्रह्म-ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। वर्तमान अवस्था में कौन से हिंदू को, किस तरह मोक्ष मिल सकता है? हिंदू जीवन-पद्धति में मोक्ष सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था मानी जाती है। इस अवस्था में सभी संदेहों और भ्रमों का हमेशा के लिए समाधान हो जाता है। भावनिक क्षणों की समाप्ति हो जाती है। उपनिषदों ने वैचारिक स्तर पर जो बातें बताई हैं, वे यथार्थ धरातल पर कभी भी खरी नहीं उतर पाईं। इसीलिए हिंदू धर्म का उच्च वर्ग ही शासन करने एवं जीने योग्य बना रहा। शेष अन्य समूह महज़ इन उच्चवर्णियों की सेवा के लिए ही पैदा हुए हैं, यह माना जाता रहा। उनके पास उनका अपना कहलाने लायक जीवन उपलब्ध नहीं था। उन्हें स्वयं के व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर भी उपलब्ध नहीं थे। हिंदू धर्म का यही दर्शन है, जो अभी भी व्यवहार में दिखाई देता है। वेदांत, सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनों ने हिंदू धर्म पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ा, वे अपने में ही मगन रहे। इनमें से कोई भी दर्शन, हिंदू धर्म के विचार एवं व्यवहार को चुनौती नहीं दे पाया। 'कण-कण में भगवान है', हिंदू धर्म का यह कथन महज़ एक वाक्य-युक्ति बन कर रह गया। यह कथन हिंदू धर्म का सामाजिक दर्शन नहीं बन पाया। हिंदू दार्शनिक हमेशा ही एक हाथ में ब्रह्म-दर्शन और दूसरे हाथ में मनु-दर्शन ले कर जीते रहे। उनके बाएं हाथ को कभी नहीं पता चला कि उनके दाहिने हाथ में क्या है! इस आत्म-विसंगति की उन्होंने परवाह भी नहीं की। **हिंदू धर्म द्वारा जाति-संस्था को प्रदान की गई स्वीकृति व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से अपराध मानी जानी चाहिए, क्योंकि इसके कारण लाखों लोगों का समूह अस्पृश्य माना जाने लगा, लाखों लोगों के समुदाय को अपराधी करार दिया गया, साथ ही**

**लाखों का समूह जंगली अवस्था में ही रहने के लिए बाध्य हुआ।** हिंदू धर्म की इस अपराधी प्रवृत्ति का किसी ने भी विरोध नहीं किया, बल्कि ब्राह्मण-वर्ग ने इन अपराधों को समर्थन प्रदान किया, विधवा-विवाह पर रोक को सही ठहराया, विधवा स्त्री के जीवित जलाए जाने को प्रोत्साहन दिया। वर्ण-संकरता से घबरा कर राजपूतों ने अपनी हजारों बेटियों को पैदा होते ही मार डाला। इस बात का भी ब्राह्मण-वर्ग ने समर्थन किया। ऐसी यह हिंदू संस्कृति क्या सुसंस्कृत समाज के सामने मुंह दिखाने लायक है? बाबासाहब द्वारा उठाए गए इन सवालियों को न्यायाधीश महादेव रानाडे ने भी उठाया था। अहंकारी और कर्मकांडी ब्राह्मणों ने इस बात पर रानाडे का कड़ा विरोध किया था।

हिंदू धर्म की इस सैद्धांतिक और व्यावहारिक विसंगति को बाबासाहब ने जोर दे कर रेखांकित किया। **गैर-भारतीय विचारक हिंदू धर्म-दर्शन के सिर्फ सैद्धांतिक स्वरूप को जानते हैं, उसके व्यावहारिक पक्ष की जानकारी उन्हें नहीं हो पाती।** विभिन्न देशों के लोग अक्सर हिंदू धर्म की प्रशंसा करते नहीं अघाते, परंतु उन्हें इस बात की भनक तक नहीं है कि यहां के नब्बे फीसदी समूहों का जीवन जानवर से भी बदतर होता है। अनेक वर्षों से भारत में विचार और व्यवहार में यह विसंगति दिखाई दे रही है। कभी-कभार व्यवहार को आवश्यकतानुसार दार्शनिक स्तर तक पहुंचाने की कोशिश की जाती है और तदनुसार पुनः उसी व्यवहार को स्वीकृति मिल जाती है। बाबासाहब ने इस प्रक्रिया को हीगेल की 'आयडियलायजेशन ऑफ रियल एंड रियलायजेशन ऑफ आयडियल' पद्धति कहा था। इसलिए उपनिषद द्वारा प्रस्तुत विज्ञान का हिंदू धर्म की मूल अवधारणा में लोप हो गया और हिंदू धर्म बहुजन समाज के लिए क्रूर कानूनों और अमानवीय आज्ञाओं का एक समुच्चय बन कर रह गया। आंबेडकर के मन में हिंदू धर्म के प्रति एक और महत्वपूर्ण शिकायत यह

थी कि सन् १९५० में भारत ने जिस संविधान को स्वीकृत किया है, उसने जिन जीवन-मूल्यों का ग्रहण किया है, वे जीवन-मूल्य हिंदू जीवन-मूल्यों के विपरीत हैं। यही नहीं, मूलतः हिंदू जीवन-शैली ही अराजनीतिक या अनपॉलिटिकल है। **बाबासाहब की धर्म-संबंधी अवधारणा मूलतः राजनीतिक थी।** उन्होंने स्वीकार किया है कि उनकी धर्म-संबंधी अवधारणा का विकास प्रसिद्ध विचारक एडमंड बर्क के दर्शन से हुआ है। बर्क के इस विचार से वे सहमत थे कि "सच्चा धर्म उस समाज की नींव होता है, जिस पर नागरिक प्रशासन और समाज टिका होता है।" इसलिए जब आंबेडकर ने बौद्ध धर्म अपनाने की घोषणा की और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के छात्रों ने हुडदंड शुरु किया तो उनके सामने व्याख्यान देते हुए बाबासाहब ने कहा था, **"स्वातंत्र्योत्तर भारत की युवा पीढ़ी एक बगल में भारतीय संविधान और दूसरी बगल में मनुस्मृति जैसा हिंदू धर्म-ग्रंथ दबा कर नहीं सकती। उन्हें इनमें से किसी एक का त्याग करना ही होगा।"**

सन् १९३६ में लाहौर के 'जात-पात-तोड़क मंडल' के अधिवेशन के लिए तैयार किया गया भाषण एक हिंदू की तरह, हिंदू जन-समूह के सामने दिया गया उनका अंतिम भाषण था। उसमें उन्होंने हिंदू समाज-व्यवस्था में सुधार लाने और जाति-व्यवस्था समाप्त करने की दृष्टि से हिंदुओं के सामने कुछ विचार-बिंदु प्रस्तुत किए थे। आंबेडकर का मानना था कि अंतर्जातीय विवाह जाति-संस्था को समाप्त करने का सबसे असरकारी साधन है। उन्होंने प्राचीन रुढ़ियों पर आघात करने की आवश्यकता प्रतिपादित की। इस भाषण से कई लोगों को गलतफहमी हो सकती थी, इसलिए अपनी बात स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि यह भाषण धर्म को नष्ट-भ्रष्ट करने का घोषण-पत्र नहीं है। उन्होंने 'नियम' और 'सिद्धांत' में फर्क स्पष्ट करते हुए कहा कि **नियम व्याहारिक होते हैं, नियमों के अनुसार व्यवहार करने की बात मान ली जाती है।**

**सिद्धांत विवेक पर आधारित होते हैं,** व्यवहार का मूल्यांकन करने वाले उपयुक्त साधन होते हैं। जीवन-यात्रा की दिशा बताने का काम नियम करते हैं, सिद्धांत किसी भी प्रकार के निश्चित व्यवहार के बारे में नहीं बताते। नियम 'क्या और कैसे करना चाहिए', यह बताते हैं, सिद्धांत किसी काम को करते हुए न्यापूर्ण विचार देते हैं। इसलिए नियमों के अनुसार किए गए कार्य में और सिद्धांत के अनुसार किए गए कार्य के स्वरूप में गुणात्मक अंतर होता है। सिद्धांत गलत होने के बावजूद उस पर आधारित कार्य विवेक पूर्ण और जिम्मेदारीपूर्ण हो सकता है। कभी-कभी नियम सही होने पर भी उस पर आधारित कार्य काम-चलाऊ तरीके का होता है। धर्म पर आधारित कार्य ठीक से न होने के बावजूद उसका जिम्मेदारी से किया जाना जरूरी होता है। इस जिम्मेदारी की भावना को पुष्ट करने के लिए **धर्म में सिद्धांत होने चाहिए, न कि नियम।** जब धर्म में नियम हावी होने लगते हैं, तब उसमें से जिम्मेदारी की भावना समाप्त हो जाती है। इस परिप्रेक्ष्य में हिंदू धर्म की समीक्षा करने पर हम पाते हैं कि इसमें सिर्फ आज्ञाओं और निषेधों की भरमार दिखाई देती है। इसलिए हिंदू धर्म में 'धर्म' के रूप में आत्मिक, वैश्विक, सर्वव्यापी, सर्वकालिक सिद्धांतों का अभाव होता जा रहा है। बाबासाहब का स्पष्ट मत था कि **हिंदू जिसे 'धर्म' कह रहे हैं, वह वर्गीय नीति को अत्यंत कुशलतापूर्वक प्रदान किया गया कानूनी स्वरूप है और ऐसी कानूनी-प्रणाली को धर्म नहीं माना जा सकता।**

#### **धार्मिक सुधारों की आवश्यकता**

औपनिवेशिक काल के दौरान हिंदू धर्म में सुधारों के बारे में विचार तेजी से पनपे थे। राजा रामामोहन राय, दयानंद सरस्वती, केशवचंद्र सेन, न्यायाधीश महादेव गोविंद रानाडे आदि ने समाज-सुधार के लिए कार्य शुरू किए। महाराष्ट्र में गोपाल गणेश आगरकर और महात्मा ज्योतिराव फुले के विचार एवं कार्य

बहुत महत्वपूर्ण हैं। औपनिवेशिक काल में भौतिक जीवन में आया हुआ बदलाव और सांस्कृतिक जीवन की मतिहीनता के कारण समाज विभाजित हो गया था। जिस तरह बदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप सांस्कृतिक मूल्यों में बदलाव आना चाहिए था, उसी तरह भावी परिवर्तनों के अनुरूप भी नए सांस्कृतिक मूल्य गढ़े जाने चाहिए थे।

राजनीतिक विचारक होने के कारण बाबासाहब आंबेडकर के राजनीतिक व्यवस्था संबंधी अपने कुछ मत थे। राजनीतिक समाजवाद का सिद्धांत उन्होंने भारतीय संविधान समिति के सामने विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत किया था। बाबासाहब आंबेडकर के पहले महाराष्ट्र में महात्मा फुले के आंदोलन की शुरुआत हो चुकी थी। इस आंदोलन के बाद हिंदू धर्म-प्रचारकों ने घोषित किया था कि "कलियुग में दो ही वर्ण हैं-- पहला ब्राह्मण और दूसरा शूद्र।" सभी शूद्र एक हैं, कते हुए महात्मा फुले ने अति शूद्रों का समावेश भी अपने आंदोलन में कर लिया था। शूद्रों और अतिशूद्रों पर एक साथ विचार करना महात्मा फुले के आंदोलन का प्रमुख विचार-सूत्र था। भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में महात्मा फुले का आंदोलन एक वर्गीय आंदोलन था। पं.सातवलेकर ने भारतीय समाज के दो वर्णों में विभाजित जातियों की जो विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की थी, उसके अनुसार **भारत में शूद्रों-अति शूद्रों की संख्या लगभग पचासी प्रतिशत से ज्यादा है। इन सभी प्रकार के शूद्रों को ब्राह्मणी मूल्यों के खिलाफ खड़ा किया जा सकता है,** यही सोच कर ब्राह्मणेतर आंदोलन छोड़ा गया था। ब्राह्मणेतर आंदोलन न केवल महाराष्ट्र में, बल्कि मद्रास राज्य में रामस्वामी नायकर के नेतृत्व में भी छोड़ा गया था। जब तक राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं आया था, तब तक जनता इन सांस्कृतिक मुद्दों पर संघर्ष के लिए तैयार थी। सन् १९०९, १९१९ और १९३५ में ब्रिटिश-शासन द्वारा लागू किए गए कानूनों के माध्यम से

राजनीतिक सुधारों के रास्ते खुले, राजनीतिक सवाल को महत्त्व दिया जाने लगा और क्रमशः सांस्कृतिक सवाल गौण होते चले गए। इसलिए उन्नतसर्वी सदी में शुरु हुए महात्मा फुले के आंदोलन का रूपांतरण बीसवीं सदी के ब्राह्मणेतर आंदोलन में हुआ। आगे चल कर बाबासाहब को महाड, नासिक आदि स्थानों पर शुरु किए गए धार्मिक मांगों के आंदोलन के संघर्ष में उतरना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि धार्मिक अधिकारों के लिए संगठित हुई जातियां राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए धर्म या जाति का सहारा लेने के बावजूद ब्राह्मणेतर रूप में वे संगठित नहीं रह पाई। इसलिए आंबेडकर के धर्मांतरण आंदोलन में सभी शूद्र और अति शूद्र जातियां सम्मिलित नहीं हुई, ज्यादातर महार जाति के लोग ही शामिल हुए। ऐसा क्यों हुआ, इस सवाल का जवाब पाने के लिए राजनीतिक अधिकारों की जाति-आधारित होड़ का विश्लेषण करना आवश्यक है।

यह बात सच थी कि धर्मांतरण के प्रयोग में सिर्फ महार जाति ही सम्मिलित हुई, अन्य जातियों ने भाग नहीं लिया, परंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि अन्य जातियां इसके लिए तैयार नहीं थी या बाबासाहब ने उनसे संपर्क नहीं किया था। उपलब्ध दस्तावेजों से जाहिर होता है कि ५ जून, १९३६ को तत्कालीन मुंबई राज्य के मांग जाति के पांच हजार लोगों की परिषद मुंबई के नायगांव में आयोजित की गई थी। इस परिषद में आंबेडकर के धर्मांतरण आंदोलन को सर्वसम्मति से समर्थन देने की घोषणा भी हुई थी। आंबेडकर ने भी मांग समाज को आश्वासन दिया था कि यदि वे धर्मांतरण आंदोलन में शामिल होते हैं तो मुंबई राज्य में अस्पृश्य-वर्ग को प्राप्त होने वाले विधान-मंडल के १५ स्थानों में से मांग समाज को भी हिस्सा दिया जाएगा। मांग जाति की दूसरी परिषद जनवरी, १९३८ को सोलापुर में हुई, जिसमें आंबेडकर ने सभी जातियों के लिए किए जाने वाले प्रयासों की जानकारी दी।

डॉ. बाबासाहब आंबेडकर का धर्मांतरण संबंधी विचार स्वातंत्र्योत्तर भारत की बदलती वास्तविकता के अनुरूप नए मूल्यों के विकास का विचार था। इस विचार की पृष्ठभूमि में उत्पादन-प्रक्रिया से पैदा हुए नए वर्ग और आम आदमी के शोषण के नए संदर्भों पर विचार की अपेक्षा धर्म के नाम पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुरोहित वर्ग द्वारा किए गए शोषण का विचार अधिक हावी था। बाबासाहब का मानना था कि समाज के सर्वोच्च स्थान पर बैठे इस वर्ग के दुर्व्यवहार से समूचा भारतीय जन-जीवन दूषित हो गया था। इस परिप्रेक्ष्य में हिंदू समाज को अपनी जीवन-दृष्टि में किस प्रकार का परिवर्तन करना चाहिए और हिंदू धर्म में किन सुधारों की आवश्यकता है, इसकी चर्चा आंबेडकर ने विस्तार से की है।

#### धर्मांतरण का स्वरूप

हिंदू धर्म में वेद, शास्त्र और पुराणों जैसे अनेक ग्रंथ उपलब्ध है। इनमें से किस ग्रंथ को प्रमाणिक माना जाए, इस संबंध में पुरोहित-वर्ग और समाज सुधारकों में समय समय पर वाद-विवाद होते रहे हैं। आंबेडकर ने इसका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए लिखा था, “हिंदुओं को इन विभिन्न ग्रंथों की भीड़ को हटा कर एक सर्वमान्य ग्रंथ को स्वीकार करना चाहिए, वेद, शास्त्र, पुराण आदि धर्म-ग्रंथों को अधिकृत और पवित्र मानने की जो परंपरा है, उसे कानूनन समाप्त किया जाना चाहिए। इतना ही नहीं, इन पवित्र और अधिकृत माने जाने वाले धर्म-ग्रंथों से धार्मिक और सामाजिक विचारों की शिक्षा देने की जिद करने वाले लोगों को दंडित किया जाना चाहिए। इस तरह के सुधारों की शुरुआत हिंदू समाज से पुरोहित-संस्था का वर्चस्व समाप्त कर दी जानी चाहिए। हालांकि यह बात असंभव दिखाई देती है, फिर भी कम-से-कम इस बात को सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि **पौरोहित्य वंश-परंपरा से न चले। हिंदू धर्म मानने वाले किसी भी व्यक्ति को पुरोहित बनने का अधिकार होना चाहिए।** इसके लिए

राज्य द्वारा पौरोहित्य करने की अनुमति प्रदान की जानी चाहिए, जिस हिंदू पुरोहित के पास राज्य की परीक्षा प्रमाण पत्र न हो, उसे किसी भी प्रकार धार्मिक कर्मकांड करवाने का अधिकार न दिया जाए, जो इस नियम को तोड़े, उसे दंडित किया जाए। इस तरह पुरोहित को शासकीय सेवक का दर्जा दिया जाए। उसके नैतिक जीवन में बदलाव आने पर शासन उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करे। सामान्य हिंदुओं के लिए जिन कानूनों का प्रावधान यिक्का गया है, उन्हीं कानूनों को इन पुरोहितों पर भी लागू किया जाए। शासन जिस तरह अपने प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या पर नियंत्रण रखता है, उसी प्रकार आवश्यकतानुसार पुरोहितों की संख्या को भी निर्धारित करे।” इस पूरे वक्तव्य से यही बात स्पष्ट होती है कि आंबेडकर पौरोहित्य को एक व्यवसाय के रूप में देखना चाहते थे। जिस तरह अन्य व्यवसायों पर शासन का नियंत्रण होता है, जिस तरह उनके लिए अधिनियमों के माध्यम से आचार-संहिता लागू की जाती है, उसी तरह पौरोहित्य का व्यवसाय करने वालों पर भी लागू की जाए। भारत में अनेक वर्षों तक पौरोहित्य एक व्यवसाय ही था, उससे होने वाली आय को देखते हुए इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि आंबेडकर अपनी इस योजना को क्रांतिकारी मानने के लिए तैयार नहीं थे, फिर भी वह अनेक अर्थों में क्रांतिकारी थी। यह योजना धर्म की पारंपारिक प्रवृत्ति पर तीखी चोट करती थी। तत्कालीन हिंदू समाज को इस तरह की चोटों की आदत नहीं थी।

बाबासाहब चार प्रमुख बातों पर विचार करना आवश्यक मानते थे। पहली बात, समाज की आदतों, विश्वास, नीति-नियम और जीवन-विषयक दृष्टिकोण के बारे में मानवशास्त्र जितनी तटस्थता के साथ चर्चा करता है, उस तरह की तटस्थता क्या हिंदू भी अपना सकते हैं? जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए किन मूल्यों, आदतों, विश्वास और नीति-नियमों को

अपनाने की आवश्यकता है, इस पर हिंदुओं को नए सिरे से सोचना चाहिए। डॉ. कार्वर को उद्धृत करते हुए बाबासाहब ने जीवन-संघर्ष में धर्म और नीति के महत्त्व को स्पष्ट किया था। बाबासाहब धर्म की जिस अवधारणा की व्याख्या करते हैं, उस पर ध्यान न दिए जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि लोगों ने ‘धर्म’ और ‘धम्म’ का अंतर नहीं समझा। धर्म में नीति के लिए कोई स्थान नहीं होता। यद्यपि प्रत्येक धर्म नीति-शिक्षा का दावा करता है, फिर भी नीति प्रत्येक धर्म का आधार नहीं है। जिस तरह इंजन में रेल का डिब्बा जुड़ा होता है, उसी तरह नीति धर्म से जुड़ी होती है, जिसे जब चाहे अलग किया जा सकता है। इसलिए किसी भी धर्म में नीति की भूमिका प्रासंगिक और अल्प-महत्त्व की होती है। बाबासाहब की धर्म-संबंधी यह अवधारणा हिंदू धर्म पर भी लागू होती है। उन्होंने **एक शक्ति-संपन्न राष्ट्र के निर्माण के लिए नीति की आवश्यकता पर काफी जोर दिया था। इसलिए उनका कहना था कि हिंदुओं को अपने जीवन-मूल्यों के संदर्भ में अपने धर्म का और धर्म-केंद्रित नीति का विश्लेषण करना चाहिए।**

दूसरी बात, जिस पर हिंदुओं को पुनर्विचार करना चाहिए, वह है **सामाजिक विरासत**। आज हिंदुओं को इस बात पर भी पुनर्विचार करना चाहिए कि उन्हें अपनी ऐतिहासिक-सामाजिक विरासत को यथावत स्वीकार कर आगे बढ़ाना चाहिए या समयानुसार उपयोग के आधार पर उसमें से चयन करना चाहिए। आंबेडकर के पूर्व-शिक्षक जॉन ड्युई के विचारों का आंबेडकर पर काफी प्रभाव था। उनके इतिहास-संबंधी विचारों को आंबेडकर ने उद्धृत किया है। ड्युई कहते हैं-- “प्रत्येक समाज इतिहास के मृत और मामूली बातें और दुष्ट विचारों के बोझ तले दबा होता है.. समाज जब धीरे-धीरे प्रगति करता है, तब वह भूत काल में समाज द्वारा निर्मित सभी चीजों का जतन करने की जिम्मेदारी से इंकार करता है। वह सिर्फ भविष्य के

लिए उपयोगी चीजों का ग्रहण करता है और उन्हें कालानुरूप नए रूप-रंग में ढालता है।” इस उद्धरण के माध्यम से बाबासाहब हिंदुओं से अपनी **ऐतिहासिक विरासत की पुनः जांच-पड़ताल** की मांग करते हैं।

तीसरी बात, हिंदुओं के अतीत-प्रेम और भक्ति के संबंध में है। हिंदू-मन अपना आदर्श खोजने के लिए बीते इतिहास की पूजा में रमने वाला है। उसकी इस अतीतजीवी प्रवृत्ति के घातक परिणामों की चर्चा करते हुए आंबेडकर पुनः जॉन ड्युई के शब्दों को उद्धृत करते हैं-- “मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में सिर्फ वर्तमान काल में ही रह सकता है। वर्तमान काल न केवल भूत काल के बाद आता है, बल्कि वह किसी-न-किसी परिणाम में भूत काल की निर्मिति होता है। वह बीते हुए काल में घटे हुए जीवन-क्षणों को वर्तमान में प्रस्तुत करता है। बीते हुए समय की कई बातों के अध्ययन से वर्तमान की अनेक बातों को समझा जा सकता है। इतिहास और उसकी विरासत में मिले ज्ञान को तभी महत्त्व प्राप्त होता है, जब वह वर्तमान में प्रविष्ट होता है। भूत काल को वर्तमान का दुश्मन कहना या वर्तमान को भूतकाल की विकृत नकल मानने से ऐतिहासिक साधनों के निर्माण में बहुत बड़ी भूल हो सकती है।” इसलिए आंबेडकर का मत था कि “जो सिद्धांत वर्तमान जीवन को समझने और विकसित करने में अनुपयोगी साबित होते हैं, वे वर्तमान के लिए बेकार और भविष्य के लिए मृगतृष्णा साबित होते हैं। ऐसे सिद्धांत प्रगति के दुश्मन होते हैं और नियमित तथा जीवंत जीवन-प्रवाह में बाधक सिद्ध होते हैं।”

चौथी बात पर चर्चा करते हुए आंबेडकर कहते हैं कि व्यक्ति-जीवन और सामाजिक जीवन में कुछ भी स्थायी और शाश्वत नहीं होता। व्यक्ति-जीवन में बदलाव अवश्यभावी है। हिंदुओं को अब यह बात स्वीकार करनी चाहिए और इन पर विचार कर अमल भी करना चाहिए। निरंतर विकसित होने वाले समाज

की मूल्य-व्यवस्था में भी क्रांतिकारी बदलावों की गुंजाइश होती है। मनुष्य के क्रियाकलापों के मूल्यांकन संबंधी साधनों में भी हिंदुओं को सुधार करना चाहिए।

बाबासाहब आंबेडकर भारतीय समाज के शोषित-पीड़ित समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वतंत्रता-संग्राम-सेनानी थे। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय समाचार-पत्र एवं नेताओं ने आंबेडकर की निरंतर आलोचना की थी। इसके बावजूद वे इस स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व त्याग कर तथाकथित अभिजात्य लोगों की भीड़ में शामिल नहीं हुए थे। शोषण समाप्ति की घोषणा करने वाले जादूगरों का नकली जादू भी उन्हें आकर्षित नहीं कर पाया था। उन्होंने महसूस किया कि सामाजिक-आर्थिक समानता और न्याय के लिए लंबे समय तक संघर्ष करने के बावजूद अभिजात्य लोगों में किसी प्रकार के बदलाव का संकेत नहीं मिल पा रहा था। अतः वे ऐसे हिंदुओं के सामने अपने विचारों को व्यक्त करते थे, जो सामाजिक समानता स्थापित करने के लिए जात-पात तोड़ना चाहते थे। **आंबेडकर को स्वराज्य-प्राप्ति की अपेक्षा सामाजिक समानता का संघर्ष ज्यादा कठिन लग रहा था।** स्वतंत्रता संग्राम में समूचा देश सहयोग करने के लिए तैयार था, परंतु सामाजिक समानता के संघर्ष में अधिकांश लोग दुश्मन की तरह व्यवहार कर रहे थे। जाति-विहीन समाज की स्थापना हुए बिना मिलने वाली स्वतंत्रता अर्थहीन है, यह समझते हुए बाबासाहब इस संघर्ष को अकेले के बलबूते पर आगे बढ़ा रहे थे। बाबासाहब का स्पष्ट मत था कि **जाति-विहीन समाज के निर्माण के बिना मिलने वाली स्वतंत्रता अधिक-से-अधिक गुलामी का अगला चरण हो सकती थी, परंतु इससे गुलामी समाप्त नहीं हो पाती।** उन्होंने बहुत साफ शब्दों में कहा था कि जाति-संस्था को समाप्त करने की पहली सीढ़ी होगी, हिंदू धर्म-शास्त्रों और वेद-स्मृतियों को मानने से इंकार करना। न्यायाधीश रानाडे द्वारा आरंभ

किए गए सामाजिक सुधारों की विरासत को एक ओर सन् १९२० के बाद गांधीजी ने पुनर्जीवित किया, वहीं दूसरी ओर स्वातंत्र्यवीर सावरकर की प्रेरणा से सन् १९३० के बाद स्वर्ण हिंदुओं ने उन्हें आगे बढ़ाया। इनमें और आंबेडकर के विचारों में यही पर स्पष्ट मतभेद दिखाई देता है। इसलिए इन तीनों महापुरुषों के जाति-निर्मूलन-कार्यों में एक सूत्रता नहीं पैदा हो पाई। वे तीनों अलग अलग रास्तों पर काम करते रहे। आंबेडकर का धर्म के प्रति यह **बुद्धिवादी दृष्टिकोण** समाज-सुधारक सावरकर और गांधीजी के गले उतरना संभव नहीं था। स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की त्रयी पर केंद्रित हिंदू धर्म-शास्त्रों की पुनर्रचना की

बात वे स्वीकार नहीं कर पाए। उनका विश्वास और जाति-व्यवस्था ने हिंदुओं के जीवन को तहस-नहस किया है, जिसके फलस्वरूप भारत का असीमित नुकसान हुआ है, आंबेडकर के इस मत से दोनों का सहमत होना कठिन था। इन्हीं कारणों और परिस्थितियों के कारण आंबेडकर ने हिंदू धर्म में बने रहने से इंकार किया और हिंदू धर्म के बंधन तोड़ने की तैयारी आरंभ की, जिसकी परिणति १३ अक्टूबर, १९३५ को नासिक जिले के येवला ग्राम में आयोजित की गई अस्पृश्य-वर्ग की परिषद में उनके द्वारा की गई घोषणा में दिखाई देती है- “दुर्भाग्य से मैंने हिंदू धर्म में जन्म लिया, परंतु अब मैं हिंदू रह कर नहीं मरना चाहता”

सामान्य जनता पर वेदों के अध्ययन के विरुद्ध प्रतिबंध लगाने से किस प्रकार निरक्षरता तथा विधर्मी जीवन के अज्ञान का निर्माण हुआ? इसका उत्तर सरल है। यह बात समझना आवश्यक है कि पढ़ाई-लिखाई का वेदों के अध्ययन तथा शिक्षा से स्वाभाविक संबंध है। पढ़ाई-लिखाई उन लोगों के लिए एक आवश्यक चीज थी, जिन्हें वेदों के अध्ययन का विशेष अधिकार था और वे इस अध्ययन के लिए मुक्त थे। जिन्हें वेदों के पढ़ने का अधिकार नहीं था, उनके लिए पढ़ाई-लिखाई आवश्यक नहीं थी। इस प्रकार से शिक्षा वेदों के अध्ययन का एक निमित्त बन गई। नतीजा यह हुआ कि वेद के अध्ययन तथा शिक्षा से संबंधित सिद्धांत पढ़ाई-लिखाई की कला पर भी लागू हो गया। जिन लोगों को वेदों के अध्ययन का अधिकार था, उन लोगों को ही पढ़ने-लिखने का अधिकार प्राप्त हुआ। जिन लोगों को वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं था, उन लोगों को पढ़ने-लिखने के अधिकार से भी वंचित रखा गया। इस प्रकार का कहना सर्वथा उपयुक्त है कि मनु के विधान के अनुसार पढ़ना-लिखना केवल कुछ मुट्टी-भर ऊंचे वर्णों का अधिकार बन गया और निरक्षरता उन अनेक नीचे वर्णों का भाग्य बन गई।

इस विश्लेषण में थोड़ा आगे बढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि शिक्षा का निषेध करने के कारण मनु ही उस अज्ञान के लिए जिम्मेदार है, जिसमें सर्वसाधारण जनता फंस गई।

इस प्रकार हिंदुत्व ज्ञान के प्रसार का एक माध्यम होने के बजाए, अंधकार का एक सिद्धांत बन गया।

## \*दलित जातियों का इतिहास-बोध

-कंवल भारती

भारतीय समाज में जातियों के निर्माण के प्रश्न को लेकर अब तक कोई वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ। शूद्र-अति शूद्र वर्ग या वर्ण हजारों जातियों में किस तरह विभाजित हुआ, यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। डॉ. आंबेडकर पहले समाजशास्त्री थे, जिन्होंने इस सवाल पर शोध किया और यह बताया कि वर्गीय समाज जातीय समाज में कब और कैसे बदला। उन्होंने अपने शोध-ग्रंथ 'कास्ट्स इन इंडिया' में वर्ग के जाति में बदलने की प्रक्रिया पर अत्यंत विस्तार से प्रकाश डाला है। 'हू वेअर दि शूद्राज' में उन्होंने शूद्र वर्ण के निर्माण की समाजशास्त्रीय परिस्थितियों का अध्ययन किया है तथा 'दि अनटचेबुल्स' में उन्होंने 'अछूत' वर्ग की उत्पत्ति पर। उनका अध्ययन अद्वितीय और विचरोत्तेजक है। उस तरह का अध्ययन किसी विद्वान ने भारत में नहीं किया। इस दिशा में अध्ययन का अगला चरण भी हमें भारतीय समाजशास्त्रियों के चिंतन में नहीं मिलता। इसलिए डॉ. आंबेडकर के अध्ययन से यह तो पता चलता है कि जातीय समाज कैसे बना। पर, इस अध्ययन में भी हमें 'शूद्र' और 'अछूत' वर्गीय समुदाय के रूप में मिलते हैं। इसलिए अलग-अलग जातियों के निर्माण की प्रक्रिया को जानने के लिये कोई आधार हमारे पास नहीं है। हम यह नहीं जानते कि भंगी की उत्पत्ति कैसे हुई और चमार की कैसे-महार, मातंग, चांडाल, डोम जातियां कैसे बनीं और पासी जाति कैसे अस्तित्व में आई।

बहुत से समाजशास्त्रियों ने मूलनिवासीवाद की अवधारणा को स्वीकार करते हुए शूद्र अछूत की उत्पत्ति को आर्य-अनार्य के संघर्ष में माना है। यह अत्यंत सरलीकृत अध्ययन है। डॉ. आंबेडकर ने इस अवधारणा का खंडन किया है। प्रगतिशील विद्वानों ने

व्यवसायों को जाति-निर्माण का मूल माना है। यह भी तर्कसंगत नहीं लगता। यदि ऐसा होता, तो बहुत सी जातियां ऐसी हैं, जिनके मूल में व्यवसाय नहीं मिलते। फिर वे कैसे बन गईं? उदाहरण के लिये महार, पासी और दुसाध ऐसी जातियां हैं, जिनके मूल व्यवसाय के बारे में नहीं बताया जा सकता।

हिंदू स्मृतिकारों ने अनुलोम-प्रतिलोम विवाह को जाति-निर्माण का आधार माना है। उनकी दृष्टि में शूद्र और अछूत वर्ण-संकर जातियां हैं। ये मान्यताएं हास्यास्पद तो हैं ही, अवैज्ञानिक भी हैं। यह हिंदू स्त्रियों के चरित्र पर भी दोषारोपण है। कुछ उदाहरण विचारणीय हैं। जैसे-भंगी, चांडाल के वंशज हैं और चांडाल को शूद्र पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न कहा गया है। यह कितना अविश्वसनीय है? कहीं इस तरह भी जाति का निर्माण होता है? स्त्री और पुरुष चाहे जिस जाति के हों, उनके बीच यदि विवाह हुआ है, तो संतान वैध होगी और विवाह नहीं हुआ, तो संतान अवैध होगी। दोनों ही स्थितियों में उसे पिता की जाति मिलेगी, कोई नई जाति उसे नहीं दी जाएगी। पर, हिंदू स्मृतिकारों ने जातियों की उत्पत्ति को अनुलोम-प्रतिलोम विवाह से जोड़कर अद्भुत स्थापनाएं दी हैं, जो एक ओर असमाजशास्त्रीय हैं, तो दूसरी ओर मुक्त समाज की गाथाएं भी हैं।

दरअसल हिंदू स्मृतिकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की व्यवस्था को मानते हुए चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में, वे उन असंख्य जातियों को कैसे समायोजित करें, जो शिल्पकार और उत्पादक वर्ग हैं और जिनकी अलग संस्कृति है? दूसरी तरफ वे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में मुक्त यौन-संबंधों से भी चिंतित थे। अपने वर्ण में ही विवाह करने के नियम को लेकर समाज गंभीर नहीं था। अतः अवैध और वर्ण-संकर

\* लेखक ने मूल आलेख में दलित शब्द का प्रयोग किया है। पाठकगण दलित से आशय मूलनिवासी जातियों से समझे।-सं.



संतानों का प्रश्न उनके लिए एक चुनौती था, क्योंकि वे सामाजिक असमानता की व्यवस्था को बरकरार रखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इसका यह हल निकाला कि शिल्पकार और उत्पादक वर्ग की जातियों को अवैध तथा वर्ण-शंकर संतानों से जोड़ दिया। यह एक अत्यंत मूर्खतापूर्ण और अवैज्ञानिक हल था। हिंदू स्मृतिकारों ने जातियों की उत्पत्ति में अपनी मूर्खता का परिचय किस प्रकार दिया है, उसकी बानगी प्रस्तुत है-

ब्राह्मण स्त्री में क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न जाति- सूत  
 ब्राह्मण स्त्री में वैश्य पुरुष से उत्पन्न जाति-मागध  
 ब्राह्मण स्त्री में शूद्र पुरुष से उत्पन्न जाति - चांडाल  
 क्षत्रिय स्त्री में ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जाति-मूर्धावसिक्त  
 क्षत्रिय स्त्री में वैश्य पुरुष से उत्पन्न जाति-धीवर  
 क्षत्रिया स्त्री में शूद्र पुरुष से उत्पन्न जाति -पुक्कस  
 वैश्य स्त्री में ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जाति-भृज्जकटक  
 वैश्य स्त्री में क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न जाति-माहिष्य  
 वैश्य स्त्री में शूद्र पुरुष से उत्पन्न जाति-वैदेह  
 शूद्र स्त्री में ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जाति-पारशव  
 शूद्र स्त्री में क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न जाति-यवन  
 शूद्र स्त्री में वैश्य पुरुष से उत्पन्न जाति-करण  
 पुक्कस स्त्री में चांडाल पुरुष से उत्पन्न जाति-सोपाक (जल्लाद)  
 निषाद स्त्री में चांडाल पुरुष से उत्पन्न जाति-अंत्यावसायी  
 वैश्य स्त्री में ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जाति-अंबष्ठ  
 शूद्र स्त्री में ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जाति-निषाद व नाई  
 कारण स्त्री में माहिष्य पुरुष से उत्पन्न जाति-रथकार

यह तो स्थिति हुई अनुलोम-प्रतिलोम विवाह की। अब चोरी से उत्पन्न संतानों की जातियां भी देखिए-

शूद्र स्त्री में ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जाति-शुंडिक (जल्लाद)  
 शूद्र स्त्री में वैश्य पुरुष से उत्पन्न जाति-दर्जी  
 ब्राह्मण स्त्री में सूचित पुरुष से उत्पन्न जाति-तक्षक (बढ़ई)  
 क्षत्रिय स्त्री में सूचिक पुरुष से उत्पन्न जाति-मत्स्यबंधक  
 शूद्र स्त्री में वैश्य पुरुष से उत्पन्न जाति-कटकार

ब्राह्मण स्त्री में सूत पुरुष से उत्पन्न जाति-वेणुक  
 क्षत्रिय स्त्री में सूत पुरुष से उत्पन्न जाति-चर्मकार  
 वैश्य कन्या में चांडाल पुरुष से उत्पन्न जाति-श्वपच  
 वैश्य कन में पुक्कस पुरुष से उत्पन्न जाति-रजक  
 क्षत्रिय स्त्री में शूद्र पुरुष से उत्पन्न जाति-रंगरेज  
 वैश्य स्त्री में रजक पुरुष से उत्पन्न जाति-नर्तक/गायक  
 वैश्य स्त्री में ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जाति-कुम्हार

यह जाति-विवरण परस्पर विरोधी भी है और हास्यास्पद भी। यदि वैश्य स्त्री में रजक पुरुष के व्यभिचार से नर्तक और गायक जाति की उत्पत्ति हुई है, तो यह नृत्य और गायन की समूची कला को ही गाली है।

स्मृतिकारों की जाति-उत्पत्ति के इस विधान को संतराम, बी.ए.ने जो आर्य समाज में बीस के दशक में चर्चित हस्ती थे-प्रलाप की संज्ञा दी थी। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हमारा समाज' में लिखा है, 'सुप्रजनन विद्या (Eugenics)' की दृष्टि से भी यह निःसार है। वंश-परंपरा का नियम बताता है कि माता-पिता और पूर्वजों के गुण-दोष ही संतान में प्रकट होकर उसे कुम्हार बना देंगे? फिर जिसका पिता ब्राह्मण है, उस कुम्हार को तो शूद्र ठहरा दिया है और जिसका पिता क्षत्रिय है, उसको भूमिहार। कहीं कुछ है, कहीं कुछ। जिस वंश-परंपरा के नियम का ठीक-ठीक पता आज के वैज्ञानिकों को भी नहीं, उसका ज्ञान उन स्मृतिकारों को था, ऐसा मानना कठिन है?²

डॉ. आंबेडकर इस उत्पत्ति विधान को स्मृतिकारों का पागलपन मानते हैं। वे अपने चर्चित ग्रंथ 'रिडिल्स ऑफ हिंदूइज्म' में लिखते हैं- "मनु ने कहा है कि चांडाल जाति ब्राह्मण स्त्री और शूद्र पुरुष के बीच अवैध संभोग का परिणाम है। क्या यह सच हो सकता है? इसका अर्थ तो यह हुआ कि ब्राह्मण स्त्रियों का चरित्र बहुत भ्रष्ट रहा होगा। शायद इसका अर्थ शूद्रों से संभोग करने को उनके मन में विशेष आकर्षण हो। क्या इस पर विश्वास किया जा सकता है?"³ वे आगे

लिखते हैं, “चांडालों की जनसंख्या इतनी अधिक है कि यदि प्रत्येक ब्राह्मण स्त्री भी एक शूद्र की रखल रही होगी, तो भी समाज में चांडाल इतने अधिक पैदा न होते जितनी कि चांडालों की संख्या है।”<sup>४</sup>

डॉ. आंबेडकर ने संकर जातियों की उत्पत्ति के विषय में मनु आदि स्मृतिकारों की व्याख्याओं का खंडन करते हुए उन्हें ऐतिहासिक रूप से असत्य कहा है। उदाहरण के लिए, मनु का कहना है कि आभीर जाति ब्राह्मण पुरुष और अंबष्ट स्त्री की जायज संतान है। पर, इस संबंध में इतिहास यह बताता है कि आभार, जिसका अपभ्रंश अहीर है, एक चरवाहा जनजाति थी, जो सिंध कहे जाने वाले निचले उत्तर-पश्चिमी जिलों में विचरती थी। उनके अनुसार, वह एक स्वतंत्र शासक जनजाति थी, जिसने कई वर्षों तक मगध पर शासन किया था।

डॉ. आंबेडकर अंबष्ट जाति के बारे में, जिसे मनु ने ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री की संतान माना है, पतंजलि के हवाले से बताते हैं कि अंबष्ट लोग अंबष्ट देश के निवासी हैं। उनके मतानुसार, चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में यूनानी दूत मेगस्थनीज ने अंबष्टों का उल्लेख किया है कि वह पंजाब की एक जनजाति थी, जिसने भारत पर सिकंदर के आक्रमण के समय उसके साथ युद्ध किया था।

एक अन्य जाति ‘आंध्र’ के बारे में मनु का कथन है कि वह वैदेहक पुरुष और कारवार स्त्री से उत्पन्न हुई थी। पर, डॉ. आंबेडकर कहते हैं कि ऐतिहासिक साक्ष्य नितांत भिन्न हैं। आंध्र वे लोग हैं, जो दक्षिण के पठार के पूर्वी भाग में निवास करते हैं। आंध्रों का मेगस्थनीज ने भी उल्लेख किया है। प्लिनी दि एल्डर (७७ ई.) ने वर्णन किया है कि यह एक शक्तिशाली जाति थी, जिसकी दक्षिण में सार्वभौम सत्ता है।

मागध, निषाद और वैदेहक के विषय में डॉ. आंबेडकर लिखते हैं कि मनु के अनुसार मागध वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न जारज संतान है,

जबकि मागध का अर्थ है मगधवासी। इस समय मगध का अर्थ है बिहार के पटना और गया जनपद। प्रसिद्ध जरासंध मगध का राजा था, जो पांडवों का समकालीन था। वैदेहक को वैश्य पुरुष और ब्राह्मणी स्त्री की जारज संतान बताया गया है, पर उसका संबंध विदेह देश के निवासी से है। प्राचीन विदेह बिहार के दरभंगा और चंपारन जनपद में स्थित था। यजुर्वेद में भी इसका उल्लेख मिलता है। राम की पत्नी सीता जिस जनक की पुत्री थी, वह विदेह का राजा था, जिसकी राजधानी मिथिला थी। निषाद को मनु ने ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री को जारज संतान कहा है। पर, इतिहास का सच यह है कि निषाद एक देशी जनजाति थी। जिसका स्वतंत्र प्रदेश और अपने राजा होते थे। रामायण में गुहा को निशादराज बताया गया है, जिसकी राजधानी श्रृंगवेरपुर थी।

डॉ. आंबेडकर इन उदाहरणों के आधार पर लिखते हैं कि मनु के इतिहास को भ्रष्ट कर डाला और अत्यन्त सम्मानित तथा शक्तिशाली जनजातियों को जारज घोषित कर दिया। उसने जिन जातियों को जारज कहा है, उनमें से कई जातियों की उत्पत्ति स्वतंत्र है, फिर भी मनु और अन्य स्मृतिकार उन्हें जारज बताते हैं। डॉ. आंबेडकर सवाल पूछते हैं कि उनके प्रति ऐसा पागलपन क्यों? क्या उनके पागलपन की कोई पद्धति है?”

डॉ. आंबेडकर की दृष्टि में यह एक पहेली है कि मनु ने संकर जातियों का प्रश्न क्यों खड़ा किया? उनके अनुसार ऐसा लगता है कि मनु को यह बात समझ में आ गई थी कि चातुर्वर्ण व्यवस्था का ढांचा चरमरा रहा है और उन जातियों की बड़ी उपस्थिति, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र की परिधि में नहीं आती थी, चातुर्वर्ण के विफल हो जाने का उत्तम प्रमाण था। इसलिए, उसे चातुर्वर्ण के नियमों को अनदेखा करके चातुर्वर्ण से बाहर की जातियों के अस्तित्व के संबंध में प्रकाश डालने के लिए विवश

होना पड़ा। पर, डॉ. आंबेडकर लिखते हैं कि मनु ने अपने इस विधान से स्त्री जाति को कलंकित करने का काम किया है, क्योंकि गुप्त संबंध इक्का-दुक्का रहे होंगे, वे इतने बड़े स्तरपर नहीं हो सकते थे।

अतः स्पष्ट रूप से यह मान लेना होगा कि हिंदू स्मृतिकारों की जाति-उत्पत्ति को व्याख्याएं मूर्खतापूर्ण हैं। उन्होंने वर्ण-संकर (जारज) जातियों की मनगढ़ंत कल्पनाएं इसलिए की, क्योंकि चातुर्वर्ण की तरह जाति व्यवस्था को भी वे जन्मना स्वीकार कराना चाहते थे। गुण-कर्म उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था। चूंकि, भारत के लिए समाजशास्त्र एक नया चिंतन-विषय था, इसलिए पाश्चात्य विद्वानों के सिवा, भारतीय समाशास्त्रियों ने जातियों की उत्पत्ति के सवाल पर कोई वैज्ञानिक काम नहीं किया। दलित जातियों के इतिहास-बोध पर खास तौर से अछूतपन की उत्पत्तिके सामाजिक कारणों पर भारतीय विद्वानों ने या तो किंवदंतियों अथवा जनश्रुतियों का सहारा लिया है या पाश्चात्य विद्वानों की व्याख्याओं का आधार बनाया है।

दलित जातियों के इतिहास-बोध पर ये दोनों ही पद्धतियां न्यायसंगत नहीं हैं। भारतीय समाजशास्त्रियों ने इन तीनों जातियों की उत्पत्ति और उनके इतिहास की भ्रामक व्याख्याएं की हैं। भारतीय कथाएं चमार को मछुआरा जाति के व्यक्ति द्वारा चांडाल औरत से उत्पन्न मानती हैं। इसके अलावा, उसे मल्लाह और चांडाल का पुत्र भी कहा जाता है। किंतु जैसा कि जी.डब्ल्यू.ब्रिम्स का भी मत है, यथार्थ में इनमें से किसी भी परंपरा का चमारों की उत्पत्ति से कोई संबंध नहीं है।

१८९१ की जनगणना में स्थानीय परंपराओं को इकट्ठा किया गया था, जो चमार की उत्पत्ति से संबंधित थी। एक परंपरा के अनुसार, एक ब्राह्मण परिवार था, उसमें चार भाई थे। एक दिन गाय मर गई और शाम तक आंगन में पड़ी रही। जब कोई भी उस मरी हुई

गाय को हाथ लगाने को तैयार नहीं हुआ, तो तीनों भाइयों ने मिलकर यह फैसला किया कि उनका छोटा भाई उस मरी हुई गाय को घर के बाहर ले जाएगा और उसके बाद वह स्नान करके पूर्व की तरह शुद्ध हो जाएगा। इस पर छोटा भाई तैयार हो गया। पर, जब वह गाय की लाश को खींचकर जंगल में फेंककर वापस आया, तो स्नान के बाद भी उसके भाइयों ने उसको अपना से इनकार कर दिया। उन्होंने उससे कहा कि अब वह चमार हो गया है और चमार का काम ही करेगा।

दूसरी कथा है कि एक राजा की दो बेटियां थी- चामू और बामू। दोनों के दो पुत्र थे, जो बहुत बलिष्ठ थे। एक दिन राजा के बाड़े में एक हाथी मर गया। राजा ने लोगों से पूछा- 'क्या कोई इतना बलिष्ठ व्यक्ति है, जो इस मृत हाथी को बाहर ले जाकर दफना सके?' चामू के बेटे ने यह काम कर दिया। इस पर बामू के बेटे ने उसको जाति-बाह्य घोषित कर दिया। वह चमार हो गया।

तीसरी कथा में पांच ब्राह्मण भाई थे। एक दिन जब वे धूमने निकले, तो उन्होंने देखा कि रास्ते के किनारे एक गाय मरी पड़ी है। चार भाई तो वहां से गुजर गए, लेकिन पांचवें भाई ने उस गाय को वहां से हटा दिया। इस पर उसके चारों भाइयों ने उसकी जाति से बाहर कर चमार घोषित कर दिया।

इन कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि चमार उसे कहा गया, जिसने मृतक पशुओं को उठाकर फेंका। यह चमार की उत्पत्ति का वैज्ञानिक और तर्कसंगत कारण बिल्कुल भी नहीं है, क्योंकि वह व्यवसाय को तो दर्शाता है, जाति को नहीं। यदि व्यवसाय ही जाति का आधार होता, तो आज चमारों में हर तरह का व्यवसाय करने वाले लोग हैं, वे डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, ठेकेदार, वकील, लेखक, व्यापारी, प्रशासक, राजनीतिज्ञ और सैनिक हैं। उनमें कोई भी मृतक पशुओं को उठाने का काम नहीं करता है। फिर

भी जातीय आधार पर वे चमार क्यों माने जाते हैं?

हमारे पास यह जानने का कोई आधार नहीं है कि ये कथाएं किसने गढ़ी? पहली कहानी को लें। उसमें तीनों भाइयों को 'चमार' शब्द का बोध कैसे हुआ? उन्हें यह कहां से पता चला कि मृतक गाय को उठाकर फेंकने से कोई चमार हो जाता है? स्पष्ट है कि चमार पहले से अस्तित्व में थे। इन कथाओं से यह जरूर पता चलता है कि मृतक पशुओं को उठाकर फेंकने के काम को घृणा की दृष्टि से देखा गया और उस काम को करने वाले व्यक्ति को अपवित्र अथवा अछूत समझा गया। पर, इससे इस प्रश्न का समाधान नहीं होता कि चमार जाति अस्तित्व में आने के बाद जन्म से ही कोई अछूत क्यों हो गया, जबकि उसका काम मृतक पशुओं को उठाकर फेंकना कभी नहीं रहा? **डॉ. आंबेडकर का ठीक ही मत था कि पेशों को अछूतपन का मूल कारण कभी नहीं माना जा सकता।** खेद है कि हिंदू विद्वानों ने शास्त्रों और जनश्रुतियों से बाहर निकलकर भारतीय समाज और इतिहास को देखने की कोशिश नहीं की। यदि उन्होंने ऐसी कोशिश की होती, तो उन्हें मालूम होता कि भारतीय समाज में हर तरह का काम करने वाले लोग थे। वह एक वर्गीय समाज था।

डॉ. आंबेडकर ने नारद स्मृति के हवाले से लिखा है कि आर्यों को गंदे पेशे करने में किसी प्रकार का कोई ऐतराज नहीं था। उसके अनुसार पेशे दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध और गंदे अथवा पवित्र और अपवित्र। गंदे पेशे दास करते हैं और शुद्ध पेशे को कर्मकार अर्थात् शूद्र करते हैं। गंदे काम कौन से हैं? नारद स्मृति कहती है—दरवाजे, शौचालय, सड़क साफ करना कूड़ा फेंकना, उच्छिष्ट भोजन तथा मल-मूत्र को उठाकर फेंकना गंदे काम है। डॉ. आंबेडकर लिखते हैं कि इससे यह स्पष्ट है कि गंदा काम करने वाले दास थे और झाड़ू लगाना गंदे काम में शामिल था। आर्यों में दास प्रथा थी। एक आर्य दूसरे आर्य का दास हो

सकता था। नारद स्मृति के अनुसार, चातुर्वर्ण में दास प्रथा अनुलोम क्रम से थी, प्रतिलोम क्रम से नहीं। मतलब यह है कि एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य और एक शूद्र, ब्राह्मण का दास हो सकता था। किंतु शूद्र का दास केवल शूद्र ही हो सकता था। डॉ. आंबेडकर इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, “यदि एक ब्राह्मण दास बने, एक क्षत्रिय दास बने, एक वैश्य दास बने अथवा एक शूद्र दास बने, तो उसे झाड़ू लगाने का काम करना ही होगा। हां, एक ब्राह्मण दास किसी क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के घर में झाड़ू नहीं लगाएगा। किंतु वह ब्राह्मण के घर भंगी का काम करेगा। इसलिए यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जो निश्चित रूप से आर्य हैं, गंदे से गंदा भंगी का काम करते हैं। यदि भंगी का काम एक आर्य के लिए घृणित कार्य नहीं था, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि गंदे पेशों को करना छुआछूत का कारा है?”

डॉ. आंबेडकर ने एक अन्य प्रश्न भी उठाया है और वह है कि १९३५ में भारत सरकार ने अछूत जातियों की एक सूची जारी की थी, जो ऑर्डर इन कौंसिल (आज्ञा-पत्र) में दर्ज है। इसमें ४२९ जातियां सम्मिलित हैं। किंतु हिंदू स्मृतियों में दी गई (अछूत) जातियों की अधिक से अधिक संख्या केवल १२ है। कौंसिल आदेश में उल्लिखित ४२९ जातियों में से केवल तीन का स्मृतियों में वर्णन मिलता है। ऐसी भी जातियां हैं, जिनके नाम स्मृतियों में हैं, किंतु ऑर्डर इन कौंसिल की सूची में नहीं है। केवल एक जाति है, जिसका नाम दोनों में है और वह जाति है चमार। आंबेडकर का मत है कि ये दोनों सूचियां दोनों में है और वह अछूत जातियों की है। अपवित्रों की सूची में से कुछ अछूतों की सूची में भी हैं। इसका कारण यही है कि जो एक समय अपवित्र थे, वे ही बाद में अछूत हो गए। चमार किसी समय अपवित्र था, पर बाद में अछूत बन गया। इसलिए उसका नाम दोनों सूचियों में

शामिल करना पड़ा। इसका कारण डॉ. आंबेडकर ने यह बताया है कि जिस समय गाय को पवित्रता का दर्जा मिला और गाय का मांस खाना पाप बन गया, उस समय अपवित्र लोगों में जो मांसाहारी थे, केवल वे ही अछूत बने। चमार का नाम इसलिए दोनों सूचियों में आता है, क्योंकि वही एक मात्र गौ मांसाहारी जाति है।

भारत के सभी प्रांतों में अछूत मानी जाने वाली एक जाति भंगी है, जिसका वाल्मीकि नामकरण हो गया है। १९३५ में जारी की गयी कौंसिल की सूची में भंगी, वाल्मीकि, मेहतर और लालबेगी नाम से इस जाति का उल्लेख है। देश भर में यह जाति सफाई का काम करती है। ब्राह्मण विद्वान भंगी की उत्पत्ति चांडाल से मानते हैं। कुछ विद्वानों ने भंगी शब्द की व्युत्पत्ति को संस्कृत के 'भंग' शब्द से माना है, जिसके आधार पर भांग पीने वाली जाति को भंगी कहा जाने लगा। इस मत में कुछ भी सच्चाई नहीं है। कभी कोई समूची जाति भांग नहीं पीती। सभी जातियों के लोग भांग का सेवन करते हैं। वे भंगी क्यों नहीं बने?

कुछ विद्वानों का मत है कि व्यवस्था भंग करने वलो लोगों को भंगी कहा गया। यह मत भी गलत है, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो वे व्यवस्था भंजक कहलाते। वे सफाई का काम क्यों करने लगे, प्रो. श्यामलाल ने लिखा है, "भारतीय दृष्टिकोण से भंगी से 'अंग-भंग' या 'भंग-अंग' का बोध होता है। इसलिए भंगी का अर्थ समाज का टूटा-कटा व खंडित अंग काफी हद तक सही है।" यह मत सही हो सकता है, पर इससे उसकी ऐतिहासिकता स्पष्ट नहीं होती। कब, क्यों और कैसे समाज का अंग-भंग हुआ और वह किन परिस्थितियों में और कब अछूत कहा जाने लगा, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

कुछ विद्वानों का मत है कि मुस्लिम शासन काल में, यह अंग-भंग हुआ। मुस्लिम बादशाहों ने उन लोगों को, खास तौर से राजपूतों को मार-मार कर

भंगी बनाया, जिन्होंने मुसलमान बनने से इनकार कर दिया था। कुछ वाल्मीकि समुदाय के विद्वान भी इसी मत के हैं। हिंदुत्वादी लेखक भी इस मत को ज्यादा पसंद करते हैं। इसी मत के समर्थन में अमृतलाल नागर ने 'नाच्यौ बहुत गोपला' उपन्यास लिखा था। पर, इस मत को स्विकार करने वाले यह नहीं बताते कि मुस्लिम मेहतरों का इतिहास-बोध क्या है? यदि एक मानें कि मुस्लिम समाज में मेहतर पहले से ही थे, तो उन्हें हिंदुओं को भंगी बनाने की जरूरत क्यों पड़ी? यदि यह मानें कि मुस्लिम समाज में पहले से ही मेहतर नहीं थे और मुस्लिम शासक वर्ग ने उन लोगों से भंगी का काम लिया, जिन्होंने इस्लाम ग्रहण करने से इंकार कर दिया था, तो मुस्लिम मेहतर कैसे अस्तित्व में आ गए? यदि वे हिंदू से मुसलमान बने, तो उनसे भंग का काम क्यों लिया गया? यह एक ऐसी गुत्थी है, जो इस मत से नहीं सुलझती।

चांडाल से भी भंगी की उत्पत्ति का तर्क गले नहीं उतरता, क्योंकि चांडाल मल-मूत्र साफ करने का काम नहीं करते थे और बाण की 'कादंबरी' से पता चलता है कि चांडालों में शासक परिवार भी थे। बाण ने एक चांडाल राजकुमारी का जिक्र किया है, जो राजा के दरबार में जाती है। यदि चांडाल एक अछूत जाति थी, तो एक अछूत कन्या राजा के महल में कैसे जा सकती थी, चीनी यात्री हुवेनसांग (६२९ई.) ने, जो १६ वर्ष तक भारत में रहा, अपने यात्रा-वर्णन में अछूत जातियों के संबंध में लिखा है- 'कसाई, धोबी, नट, नर्तक, बधिक (कसाई) और भंगियों की बस्ती एक निश्चित चिन्हों द्वारा पृथक की गई है। वे शहर से बाहर रहने के लिए मजबूर किए जाते हैं और जब कभी उन्हीं किसी के घर के पास से गुजरना होता है, तो वे बाईं ओर बहुत दबकर निकलते हैं।'

इस वर्णन से पता चलता है कि भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित होने से पहले ही भंगी जाति मौजूद थी। यही नहीं, हमें बुद्ध के समय में भी, जो आज से

ढाई हजार वर्ष पहले का समय है, सुनीत नामक सफाईकर्मी की मौजूदगी मिलती है, जिसे बुद्ध ने अपने धर्म में दीक्षित कर भिक्षु बनाया था। तब, हम ये कैसे कह सकते हैं कि मल-मूत्र उठाने और झाड़ू लगाने वाली जाति मुसलमान शासक वर्ग ने पैदा की है? खेद है कि भारतीय इतिहासकारों ने इस जाति की उत्पत्ति को लेकर कोई मौलिक अनुसंधान अभी तक नहीं किया है।

संभवतः यह जाति न होकर एक सफाईकर्मी वर्ग है, जिसे भारतीय शासक वर्ग के राजनैतिक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र ने पैदा किया। इसमें अनेक दलित जातियां शामिल हैं।

इसी तरह पासी अछूत जाति है, जिसका उल्लेख १९३५ की भारत सरकार की सूची में मिलता है, पर हिंदू स्मृतियों में इस जाति का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस जाति की उत्पत्ति कैसे हुई, इस पर भी इतिहासकारों ने कोई काम नहीं किया। ब्राह्मणों ने कुछ कहानियां गढ़ लीं और मूर्ख लोग उन्हीं को पासी जाति की उत्पत्ति का आधार मानते रहे। एक कहानी के अनुसार, पासी जाति का उदय परशुराम के पसीने की बूंदों से हुआ है। कथा इस प्रकार है—एक दिन एक व्यक्ति ढेर सारी गौओं का वध करने जा रहा था। उस समय ऋषि परशुराम वन में तपस्या कर रहे थे। गौओं के वध की आवाज़ सुनकर परशुराम वहां आए। वहां उन्होंने देखा कि गोवध करने वाले व्यक्ति की सहायता उनके मित्र कर रहे थे। अतः परशुराम ने कुश घास से उन्हें पांच पुतले बनाए और अपने पसीने की बूंदें छिड़ककर उन्हें जीवित कर दिया। उनके पसीने से जीवित हो उठे पुतलों ने उन गौओं की रक्षा की। चूंकि इन व्यक्तियों का उद्भव परशुराम के पसीने से हुआ, इसलिए उनको पासी की संज्ञा दे दी गई।

क्या इस तरह भी किसी जाति की उत्पत्ति हो सकती है? श्री.आर.के.चौधरी ने ठीक ही लिखा है कि यह काल्पनिक अवैज्ञानिक और हास्यास्पद कथा

है। लेकिन, ब्राह्मणों ने ऐसे मिथक अकारण नहीं गढ़े उनके पीछे वे एक मकसद लेकर चले हैं। इस कथा का भी एक मकसद है और वह है पासी समुदाय को गौओं का 'रक्षक' साबित करना। इसका मतलब है, उन्हें हिंदुत्व के घेरे में रखना। इस तरह की मनगढ़ंत कथाएं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति को लेकर नहीं हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि वे हिंदू व्यवस्था के ही लोग हैं। ब्राह्मण ने सिर्फ उन्हीं जातियों के बारे में मिथक गढ़े हैं, जो हिंदू व्यवस्था के भीतर नहीं हैं। पासी ऐसी ही एक जाति है, जो हिंदू नहीं है और एक स्वतंत्र जाति रही। उत्तर प्रदेश में यह एक शासक जाति रही है। लखनऊ और उसके आस-पास के इलाकों में पासी राजाओं के किले हैं। इससे मालूम होता है कि अवध के बड़े भू-भाग पर पासी शासक थे।

एक शासक जाति आज अति दलित स्थिति में क्यों है? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर समाजशास्त्रियों तथा इतिहासकारों ने बहुत कम-लगभग न के बराबर काम किया है। इस संबंध में श्री आर.के. चौधरी की पुस्तक 'पासी साम्राज्य' कुछ मार्ग प्रशस्त करती है। उनका मत है कि तेरहवीं शताब्दी में पासियों का जिक्र सुअर पालने वाली जाति के रूप में मिलता है, पर इससे पूर्व उनका पेशा क्या था, इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि पासी समुदाय का पतन मुसलमानों, राजपूतों और ब्राह्मणों के षड्यंत्र का परिणाम है। पासी राजाओं को बेदखल करने के लिए, मुसलमानों तथा राजपूतों ने लगातार हमले किए थे। ब्राह्मणों ने पासी राजाओं के सर्वनाश के लिए जयचंद से सहायता ली थी। अवध के अधिकांश पासियों ने मुसलमानों से बचने के लिए सुअर-पालन का रास्ता अपनाया था। पर, यही पेशा उनके पतन का भी कारण बना।

अन्य अछूत जातियों की तरह पासी भी गांव के बाहर रहने वाली जाति है। श्री चौधरी इसका कारण

यह बताते हैं कि धर्म के ठेकेदारों ने एक योद्धा जाति अपनी सुरक्षा के मकसद से गांव के मुहाने पर षड्यंत्र करके बसाया था, ताकि विदेशी आक्रांताओं के हमलों से वे बच सकें।

अंग्रेज सरकार ने इस वीर जाति को पहले 'न्यूसेंस प्रोन जाति' घोषित किया था, जिसका अर्थ था, 'उपद्रव करने वाली जाति।' पर, बाद में उसने १८७१ में उस पर जरामय पेशा एक्ट लागू करके उसे क्रिमिनल (अपराधी) जाति घोषित कर दिया था। कहना न होगा कि अंग्रेजों के इस काले कानून ने पासी जाति को पद-दलित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई थी।

राजेंद्र यादव कहते हैं कि दलितों का कोई इतिहास नहीं है। शायद वे यह इस अर्थ में कहते हैं कि गुलामों का इतिहास नहीं होता। पर, वे गलत कहते हैं। दरअसल गुलाम ही इतिहास बनाते हैं। दलित वर्ग श्रमशील जातियों का वर्ग और इस वर्ग का अपना इतिहास है। इस इतिहास को लिखने का काम शुरू हो गया है। चमारों का इतिहास लिखा जा चुका है और 'पासी शोध एवं सांस्कृतिक संस्थान', लखनऊ द्वारा पासी-इतिहास को प्रकाश में लाने का काम अनवरत जारी

हे, जिसमें इतिहासकार राजकुमार और के.के. रावत के अनेक उल्लेखनीय ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

वाल्मीकि समाज के उद्भव, विकास और स्वरूप पर बट्टीप्रसाद वाल्मीकानंद की पुस्तक 'वाल्मीकि-वाल्मीकि' १९७० में (संभवतः) प्रकाशित हुई थी। उसके बाद इस विषय पर सबसे महत्वपूर्ण काम अरुण ठाकुर और महम्मद खडस ने मराठी में किया, जिसका महत्वपूर्ण दस्तावेज 'नरक सफाई' के नाम से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी में संजीव खुदशाह की 'सफाई कामगार समुदाय' नाम से उल्लेखनीय पुस्तक सामने आई है। भगवानदास जी ने 'मैं भंगी हूँ' लिखकर भंगी समाज के समूचे इतिहास को उद्घाटित किया है और इधर हरियाणा के आचार्य नफेसिंह दिलोढ़ ने 'भूला बिसरा चरक इतिहास' लिखकर वाल्मीकि समाज को 'लोकायती' साबित किया है और लिखा है- "हम हिंदुओं के विरोधी चार्वाक धर्मी मद्र देश के चरक हैं और प्राचीन काल के लोकायती ब्राह्मण हैं।"

पर, लोकायती ब्राह्मण वाल्मीकि समुदाय में कैसे बदला, इसका समाधान अभी बाकी है।

राजनीतिक स्वतंत्रता का तात्पर्य व्यक्ति की उस स्वतंत्रता से है जिसके अनुसार वह कानून बनाने तथा सरकारों को बनाने अथवा बदलने में भागीदार होता है। सरकारों का गठन इसलिए किया जाता है जिससे कि वे व्यक्ति के लिए कुछ अनन्य अधिकार, जैसे जीवन-स्वतंत्रता तथा प्रसन्नता के साधन सुरक्षित ढंग से उपलब्ध कराएं। अतः सरकार वहां से ही अपने अधिकार प्राप्त करे, जिनके अधिकारों को सुरक्षित रखने का दायित्व उसे सौंपा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सरकार को अपना अस्तित्व, अपनी शक्ति, अपना अधिकार उन लोगों से ही प्राप्त करना चाहिए, जिन पर वह शासन करती है। वास्तव में राजनीतिक स्वतंत्रता मानव-व्यक्तित्व तथा समानता के सिद्धांत से उत्पन्न होती है क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि सभी प्रकार का राजनीतिक अधिकार जनता से प्राप्त होता है तथा जनता दूसरों के द्वारा नहीं, बल्कि अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए लोगों के सार्वजनिक तथा निजी जीवन को नियंत्रित करने तथा दिशा-निर्देश देने में समर्थ है।

-डा.अम्बेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खण्ड-६, पृ. १२७